हमारी उलझन

H
813.31
V 59 H

H
813.31
V59 H

ग्रन्थ-संख्या—४७

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

संशोधित मूल्य
भा० भं०

द्वितीय संस्करण : : वि० २०१८

मूल्य
१.५० न.

H
813.31
V 59 H

Library IIAS, Shimla
H 813.31 V 59 H
00046157

No 46157

मुद्रक
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विषय-सूची

१—ईश्वर	५
२—परिग्रहण और दान	१३
३—एक साहित्यिक दृष्टिकोण	१९
४—विचार-विनिमय	२६
५—सुविधा का धर्म	३३
६—दीवाली	४०
७—चर्खा	४९
८—एक आक्षेप	५५
९—धोखा-धड़ी	६१
१०—श्रेणी-भेद	६७
११—हरखू की बरात	७५
१२—अहम का विकास	८१
१३—बीमारी का कारण	८९
१४—होली	९८
१५—इस सब के बाद	१०४

ईश्वर

लोग मुझसे अकसर पूछा करते हैं, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

मैं नहीं जानता कि मैं उन्हें क्या उत्तर दूं। मैंने कभी इस प्रश्न पर सोचा नहीं, सोचने की आवश्यकता भी तो नहीं समझी।

मुझ पर मुसीबतें पड़ीं, ऐसी मुसीबतें जिनकी कल्पना करने से ही हृदय काँप उठता था। लेकिन जब वे मुसीबतें सर पर आईं तब मैंने यह अनुभव किया कि वे मुसीबतें कुछ भी नहीं हैं। नित्य ही घटित होने वाली साधारण घटनाओं की भाँति वे मुसीबतें भी आईं और चली गईं। लोगों का कहना है कि मुसीबतों के समय खुदा याद आता है, पर मैं यक़ीन दिलाता हूँ कि उन मुसीबतों के समय भी मैंने ईश्वर के विषय में कुछ नहीं सोचा।

इस सब का कारण शायद यह था कि उस समय मेरे हृदय में उत्साह का उन्माद था, जवानी का जोश था और उज्ज्वल भविष्य की एक कल्पना थी।

× × ×

पर आज मैं ही अपने से पूछ रहा हूँ, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

आज जब मैं ज़िन्दगी की कल्पनाओं को देखते-देखते निराश-

सा हो रहा हूँ, आज जब मैं थका और हारा-सा वर्तमान के प्रति जबर्दस्ती आँखें बन्द करके विगत पर मनन करता हूँ, भविष्य की कल्पना करता हूँ, तब मैं अनायास अपने से पूछ उठता हूँ, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

मैं देख रहा हूँ कि पहले मुझ में अनुभवों की कमी थी, और इसलिए अपने अन्दर वाली नेकी के कारण मुझे नेकी पर विश्वास था। उन दिनों मैंने लोगों से भले ही कह दिया हो कि मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं, पर इतना जानता हूँ कि नेकी और सुन्दरता पर मुझे विश्वास था और इसलिए मुझे ईश्वर पर विश्वास था। वह विश्वास मेरे अन्दर जड़ जमाए बैठा था और इसलिए मुझे कभी सोचने की या यों कहिए कि उस विश्वास पर फिर से ग़ौर करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। जब-जब मैंने यह कहा कि मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं तब-तब मेरा मतलब उस ईश्वर से था जो देवालयों में पूजा जाता है।

पर आज जब दुनिया की कुरूपताओं का मुझे अनुभव हुआ, आज जब नेकी पर मेरा विश्वास डिगने लगा है तब यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा हो ही गया है। आज मुझे इस प्रश्न का उत्तर पाना ही है कि क्या ईश्वर है; आज अपने विश्वास वाले ईश्वर के नष्ट हो जाने के बाद उसके स्थान पर बुद्धि द्वारा ईश्वर को स्थापित किया जा सकता है !

इस स्थान पर मेरे लिए सब से पहले आवश्यक होगा ईश्वर के रूप को समझ लेना—दूसरों के वास्ते नहीं बल्कि अपने वास्ते।

हम बनते हैं—तो हमें बनाने वाला भी कोई होगा ! जो हमें बनाने वाला है वही ईश्वर है—यह मैं माने लेता हूँ।

हम मिटते हैं––तो हमें मिटाने वाला भी कोई होगा। जो हमें मिटाने वाला है, वही ईश्वर है––यह भी मैं मान लेता हूँ।

पर इस बनाने और मिटाने वाले ईश्वर पर विश्वास करने अथवा अविश्वास करने से होता क्या है? हम बनने और मिटने वालों को उस बनाने और मिटाने वाले से क्या सरोकार? हमें तो सरोकार इस बात से है कि वह हमें क्यों बनाता है और क्यों मिटाता है?

कलाकार एक चित्र बनाता है, और चित्र में अपूर्णता होने पर वह उस चित्र को मिटा देता है––इसके बाद वह फिर उस चित्र को बनाता है। और चित्र का मिटना-बनना उस समय तक जारी रहता है जब तक चित्र पूर्ण रूप से न बन जाय।

चित्र और मनुष्य में भेद केवल इतना है कि जहाँ चित्र निर्जीव है वहाँ मनुष्य सजीव है; जहाँ चित्र स्वयं बन-बिगड़ नहीं सकता वहाँ मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा स्वयं बन-बिगड़ सकता है।

और चाहे हम स्वयं बनने-बिगड़ने वाले ईश्वर हों या हमें बनाने अथवा बिगाड़ने वाला ईश्वर कोई दूसरा हो, हम इतना जानते हैं कि हमें बनकर और बिगड़कर सम्पूर्ण बनना है।

हम सम्पूर्ण बनने वाले मानव हैं! पुनर्जन्म पर विश्वास के अनुसार अनेक जन्मों में आधाकर हमें सम्पूर्ण बनना है, या हम सम्पूर्ण बनने वाले समाज के नश्वर भाग हैं और विकास के क्रम में सहयोग देते रहकर, समाज को सम्पूर्ण बनाने का हमें प्रयत्न करना है––यह एक ही बात है। हम इतना जानते हैं कि हमें सम्पूर्ण बनना है।

और मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण ही ईश्वर है। सम्पूर्णता सत्य है, सम्पूर्णता सुन्दर है, सम्पूर्णता कल्याण है। जो अपूर्ण है वही कुरूप है, जो कुरूप है वही मिथ्या है, जो मिथ्या है वही अकल्याण-कारी है।

सत्य, शिव और सुन्दर यह तीनों सम्पूर्णता की इकाई के तीन पहलू हैं।

और हमारी ज़िन्दगी की कुछ-न-कुछ सार्थकता तो होनी ही चाहिए। आज तक निरर्थक मैंने किसी काम को नहीं देखा—हर काम के पहले एक कारण रहा करता है। इस सृष्टि का कारण, जहाँ तक मैं कल्पना कर सकता हूँ, सम्पूर्णता प्राप्त करना है।

× × ×

लोग उन तकलीफों की तरफ इशारा करते हुए जिनसे वे दुखी हैं, जिन्हें अपनी नेकी से वे दूर नहीं कर सकते, मुझसे कहते हैं कि नेकी पर विश्वास करना व्यर्थ है। वे ऐसे अनगिनती आद-मियों का हवाला देते हैं जो सुखी हैं, सम्पन्न हैं, वैभव वाले हैं लेकिन जिनमें नेकी का नाम नहीं। उनका कहना है कि बिना बेईमानी किये, बिना शैतान को आत्म-समर्पण किये कोई आदमी लखपति या करोड़पति नहीं बन सकता, लखपति एवं करोड़-पती आदमी भी—चाहे जितना पतित या कलुषित वह क्यों न हो—हर समाज में इज्जत होती है, हर क्षेत्र में वह पूजा जाता है।

वे लोग ग़लत नहीं कहते—मैं जानता हूँ। मैं अपने चारों तरफ़ देखता हूँ और हर जगह लूट का बाज़ार गरम है। लूटने

वाले हँसते हैं, मौज करते हैं। अभी उसी दिन एक सज्जन ने बहुत गम्भीरता पूर्वक मुझसे कहा था, "अगर सुखी रहना चाहते हो तो पैसा पैदा करो, अगर पैसा पैदा करना है तो शैतान बनो! अपनी नेकी से तुम भूखे ही मरोगे!" और उन्होंने भी यह बात अपने अनुभवों से ही कही थी। जो जितना अधिक मालदार है वह उतना ही अधिक शैतान है!

लेकिन इसी वक्त मुझे ईश्वर की ज़रूरत पड़ जाती है। इस वक्त जब विश्वास मिट गया है, जब कुरूप वास्तविकता ने मेरी कल्पना को कुचल दिया है, तब मुझे अपने को साहस देने वाले ईश्वर की बहुत बड़ी जरूरत है जो मुझे सही रास्ता दिखलावे।

मेरे अनुभवों ने बतलाया है कि सुख-दुख एक मानसिक स्थिति है। रूखा-सूखा खाना खाने वाले किसान और तरह-तरह के व्यंजन खाने वाले रईस के भोजन के बाद वाले सन्तोष में मैं तो कोई अन्तर नहीं देख पाता। सीधी बात यह है कि हरेक आदमी अपने सुख का एक केन्द्र बना लेता है। मैंने ऐसे करोड़पति देखे हैं जो एक चिथड़ा मिर्जई पहनकर और साग-पात खाकर जिन्दगी पार कर देते हैं।

और मैं सोच रहा हूँ—हम पैसा पैदा करना ही क्यों चाहते हैं? हमें केवल उतने पैसे चाहिएँ जितनों से हमारी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ। आखिर क्या ज़िन्दगी का ध्येय पैसा ही पैदा करना है? हम भले ही अठमहले महल बना लें, हम भले ही मजदूरों का पेट काटकर, उनकी कमाई उनसे छीन कर, उनके पैसों को अपना कहकर मिलों पर मिलें बनाते चले जायँ, हम भले ही

इलाकों पर इलाके खरीद लें—हमें मरना ज़रूर है। और यह सब जो कुछ हमने दूसरों को सताकर, दूसरों का अभिशाप अपने सर पर लादकर एकत्रित किया है, यहीं का यहीं रह जायगा। और क्या यह जमा अपनी सन्तानों के लिए छोड़कर हम अपनी सन्तानों का कुछ भला कर सकेंगे ?

यहाँ भी मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ हमारा कर्तव्य है कि हम अपने बच्चों को धर्मज्ञ बनावें, उन्हें ऐसी शिक्षा दें कि वे नेक बनें, वे अपने को विकसित करके दुनिया के विकास में सहायता दे सकें, हम करते यह हैं कि हम उत्पीड़न की शैतानियत और वैभव की पशुता उन बच्चों के लिए वसीयत के रूप में छोड़ जाते हैं। एक बार मेरे एक मिलने वाले ने मज़ाक-मज़ाक में मुझसे एक बात कही थी, और कहने के समय शायद उन्हें स्वयं यह मालूम न था कि कितना बड़ा सत्य वे कह रहे हैं। वे सज्जन ताल्लुकेदारों के खानदान के हैं और उन्होंने ताल्लुकेदारों के व्यर्थ का ज़िक्र करते हुए कहा था, "अगर मैं ताल्लुकेदार होता तो अपने ताल्लुके पर दस-पाँच लाख का कर्ज अवश्य छोड़ जाता। इसी हालत में मेरे लड़के को ताल्लुका पाते ही इस बात की चिन्ता होती कि यह कर्जा कैसे अदा किया जाय। और मेरा लड़का आरम्भ से ही मुसीबतों में पड़कर नेक बनता। जो ताल्लुकेदार मरने के वक्त दस-पाँच लाख रुपया नकद छोड़ते हैं वे मानो अपने लड़कों को वसीयत कर जाते हैं कि "इस रुपये से वेश्यागमन करो, शराब पियो और इस प्रकर सदा के लिए अपनी ज़िन्दगी नष्ट कर लो।"

मैंने अकसर पैसा पैदा करने के लिए अपनी मनुष्यता को

बेंचने के लिए उत्सुक आदमी से पूछा है, "तुमने इतने गिरे हुए कार्यक्रम को अपना आदर्श क्यों मान रक्खा है ?"

लेकिन मैं जानता हूँ कि लोगों से मेरा यह प्रश्न बेकार ही था। इसका एकमात्र कारण यह है कि लोगों के सामने अभी तक कोई आदर्श भी तो नहीं है। 'सामने' से मेरा मतलब 'समझ में' से है। लोगों को ज़िन्दगी की सार्थकता का पता नहीं, वे तो ज़िन्दगी की सार्थकता अपने को दूसरों से पृथक करके अच्छा खाने में, अच्छा पहनने में, अच्छे मकानों में रहने में, अच्छी सवारियों पर चढ़ने में और दूसरों द्वारा आदर पाने में समझते हैं। इस सबके लिए धन चाहिए, और इसीलिए धन के पिशाच ने लोगों को बुरी तरह जकड़ लिया है। इस धन के पिशाच के हाथ में लोगों ने अपनी आत्मा बेच दी है।

मैंने लोगों को भोर सुबह से आधी रात तक टेलीफ़ोन के पास बैठे रहकर सट्टा करते देखा है। उन लोगों ने ज़िन्दगी का केवल एक रस जाना है—पैसे की हाय ! वे लोग जीवन के आदर्शों से कितना गिर गए हैं।

आज हमें जीवन के वास्तविक आदर्श को, अपने जीवन की सार्थकता को पाना पड़ेगा। बिना जीवन की सार्थकता को समझे हमारा कल्याण नहीं। और जीवन की सार्थकता को समझना ही ईश्वर पर विश्वास करना है।

वह ईश्वर जो हमारे दिनभर के पापों को संध्या के समय हमारी जरा-सी खुशामद से क्षमा कर देता है, वह ईश्वर जो हमारे जीवन भर के कुकृत्यों को हमारी तीर्थयात्रा अथवा गंगा-स्नान से धो देता है, वह ईश्वर जो मन्दिरों में बैठकर प्रसाद

चढ़वाता है, घण्टे बजवाता है, मैं उस ईश्वर की बात नहीं करता। उस ईश्वर पर मैंने अभी तक विश्वास नहीं किया, कर भी नहीं सकता। मुझे तो विश्वास करना है उस ईश्वर पर जो मेरी मानवता का स्वरूप है, जो मुझे अपने विश्वास में सहायता दे सके।

और मैं आज स्वयं अपने को ही उत्तर दे रहा हूँ—मुझे ईश्वर पर विश्वास है। बिना विश्वास के जीवन लक्ष्यहीन है, विश्वास पर क़ायम रहकर ही तो हम आगे बढ़ सकते हैं। हमें इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम वेदों, शास्त्रों, पुराणों का अध्ययन करें, हमें इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम माया-ब्रह्म के भेद-भाव को समझें, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत से मुझे कोई सरोकार नहीं।

मुझे तो दुनिया के दुःख-दर्द को देखना है। मुझे अपने को इतना अधिक विकसित करना है कि सारी दुनिया के दुख-दर्द को मैं अपना ही समझने लगूँ। मुझे ईश्वर पर विश्वास करते-करते स्वयं ही ईश्वर बन जाना है।

परिग्रहण और दान

एक पंडाल में एक तख्ती पर लिखा था—"परिग्रहण पाप है, दान उसकाप्रायश्चित्त है !" वह वाक्य पढ़कर मैं असमंजस में पड़ गया ।

मेरे आस-पास बैठे हुए लोगों में करीब-करीब सभी ऐसे थे जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे परिग्रहण करते हैं—और उन लोगों में कई ऐसे थे जो दान भी करते हैं। मुझे उस समय कुछ थोड़ी-सी हँसी भी आई, यह सोचकर कि उन लोगों पर जो परिग्रहण करते हैं और दान देते हैं, इस वाक्य का क्या असर पड़ेगा। और मैंने यह भी देखा कि किसी को उस वाक्य से असन्तोष नहीं था, शायद बहुतों ने वाक्य पर ध्यान न दिया हो, और अगर ध्यान भी दिया हो तो उस वाक्य के असली मतलब को न समझा हो ।

क्या वास्तव में परिग्रहण पाप है ? यहाँ हमें परिग्रहण के अर्थ को समझना पड़ेगा । उसके रूप को देखना पड़ेगा ।

ग्रहण करने के अर्थ होते हैं लेना। मनुष्य स्वामी है, प्रकृति का शासक—और प्रकृति से लेना, ग्रहण करना उसका धर्म है । क्षुधा शान्त करने के लिए भोजन, शरीर ढाँकने के लिए वस्त्र, साँस लेने के लिए हवा—हम सब तरह ग्रहण ही करते हैं। पृथ्वी की छाती फाड़कर मनुष्य ने तेल निकाला, सोना, चाँदी,

लोहा, कोयला निकाला। और ग्रहण करने के स्वाभाविक धर्म के अनुसार आजतक का मानवीय विकास होता रहा। मेरा तो ऐसा ख्याल है कि सृष्टि का मूल उद्देश्य ही यह है कि पुरुष प्रकृति पर विजय पावे, एक-एक करके उसके अनन्त रहस्यों को सुलझा कर। ग्रहण करने का निषेध अस्तित्व का नकारात्मक सिद्धान्त है—मृत्यु है। जीवन कर्म है, कर्म प्रेरणा द्वारा जनित है, प्रेरणा अभिलाषा का रूपान्तर है और अभिलाषा ग्रहण करने की भावना का दूसरा नाम है। ग्रहण करना ही जीवन है।

परिग्रहण का दूसरा अर्थ होता है—दूसरे मनुष्य से ग्रहण करना, अर्थात् दूसरे मनुष्य से छीन लेना। आज के समाज का समस्त संघर्ष, सारी मुसीवत, सारे रक्तपात का मूल कारण है यह परिग्रहण। वजाय इसके कि मनुष्य प्रकृति से ग्रहण करे, वह दूसरे मनुष्यों से ग्रहण करने में विश्वास करने लगा है। ये आली-शान मकान, ये मिल-कारखाने, यह बड़े-बड़े होटल, सिनेमा, रेसकोर्स—ये सब इसी परिग्रहण के दूसरे रूप हैं जहाँ सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य से छीन लेता है, जहाँ एक आदमी लाखों आदमियों को कंगाल वनाकर स्वयं वैभवशाली बन जाता है।

इस अर्थ में परिग्रहण पाप है—इसे कोई इनकार नहीं कर सकता। इस परिग्रहण में उत्पीड़न है, पशुता है, असमर्थता है, मानवीय क्षमता और सामर्थ्य पर मनुष्य का अविश्वास है।

जो मनुष्य परिग्रहण करता है वह समाज के प्रति तो अपराधी है ही, वह अपने प्रति भी भयानक रूप से अपराधी है क्योंकि वह स्वयं अपनी मनुष्यता पर आघात करता है, वह अपने को पशुता की कोटि में गिरा लेता है।

और क्या दान से उस मनुष्य के पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है ?

यह कहना कि दान परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त है, दान की प्रवृत्ति को उत्साहित करना है—मैं यह माने लेता हूँ, पर मैं पूछता हूँ कि क्या दान की प्रवृत्ति को उत्साहित करने से परिग्रहण की प्रवृत्ति उत्साहित नहीं होती ?

जिसे यह विश्वास हो जायगा कि दान से परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा, वह जोरों के साथ खुलकर परिग्रहण करेगा, और उसके साथ एक छोटा-सा हिस्सा दान में देकर अपने पापों से मुक्ति पा जायगा। दूसरों को उत्पीड़ित करके दस-बीस लाख रुपया पैदा करनेवाला आदमी दस-बीस हजार दान देकर तथा अपने पापों से मुक्ति पाकर अपने परिग्रहण के कार्य-क्रम में दत्त-चित्त रहेगा, और इस प्रकार दुनिया में उत्पीड़न बुरी तरह बढ़ता ही रहेगा।

हम हिन्दू दान देने में हरदम आगे रहे हैं। हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण—इनके उदाहरण और आदर्श हरेक हिन्दू के सामने हैं। इतना अधिक दान हिन्दुओं में प्रचलित रहा है कि दान लेना स्वयं परिग्रहण का एक रूप बन गया और भिक्षा-वृत्ति पर जीवित रहने वाले एक समाज का ही सृजन हो गया। और हिन्दू रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद ही नहीं, अपनी कन्या और अपनी पत्नी तक दान में दे देते थे। और इस दानवीर हिन्दू समाज का नैतिक पतन भी इतना अधिक हुआ कि हजारों वर्ष से हिन्दू दूसरों की गुलामी कर रहे हैं।

दान देने वाले को जितना अधिक गिराता है उससे अधिक

लेने वाले को गिराता है, और इसलिए दान अपने प्रति तो अपराध है ही, उससे अधिक समाज के प्रति अपराध है। मैंने ऐसे मनुष्यों को देखा है जो कोई काम नहीं करना चाहते, जो जीवित रहने के लिए परिश्रम नहीं करना चाहते, जिन्होंने भिक्षावृत्ति अपनी आजीविका बना ली है, जो शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से अपाहिज बन गये हैं। और मैं समझता हूँ कि ऐसे लोग मनुष्यता के नाम पर कलंक हैं। पर सवाल यह है कि ऐसे लोगों को जन्म किसने दिया? मनुष्यों को इतना कायर, अकर्मण्य और नपुंसक बनाया किसने? उत्तर साफ़ है—इन दान देने वालों ने।

परिग्रहण पाप है—ऐसा पाप जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। और दान उससे भी अधिक भयानक पाप है। एक ओर वह परिग्रहण को प्रेरित करता है, दूसरी ओर वह संसार में अपाहिजपन को, गुलामी को, अकर्मण्यता को बढ़ाता है। परिग्रहण समाज के लिए ऐसा विष है जिसका उपचार किया जा सकता है, लेकिन दान ऐसा विष है जिसका कोई उपचार ही नहीं। परिग्रहण निर्बल पर शारीरिक उत्पीड़न है, दान निर्बल की आत्मिक मृत्यु है।

एक दूसरी बात और! मैं सोचता हूँ कि परिग्रहण ही क्यों हो जिससे दान देने की आवश्यकता पड़े। ये दातव्य औषधालय, ये अनाथालय, ये निःशुल्क शिक्षालय! इन सबों की ज़रूरत इसलिए है न कि परिग्रहण की नीति से सबल मनुष्यों ने निर्बलों के उनके जीवित रहने के अधिकार से वंचित कर दिया है। और दान द्वारा अपनी आत्मा को छल के तथा उत्पीड़ितों को दूसरों

की दया पर निर्भर एवं मानसिक गुलाम बनाकर वही सबल मनुष्य परिग्रहण को अक्षय बनाते हैं ।

देना बुरा है—दान के रूप में, सहायता के रूप में नहीं । दूसरों के दुख से द्रवित होकर दूसरों के दुख को दूर करना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, लेकिन इस स्थान पर देनेवाला लखपती एवं करोड़पती परिग्रहण-कर्ता के रूप में नहीं आता, वह आता है एक मानव के रूप में । सड़क पर पड़े तड़पते हुए रोगी को डाक्टर के यहाँ ले जाकर उसके इलाज पर चार-छै रुपये ख़र्च कर देनेवाला आदमी उस करोड़पती से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो दस-पाँच लाख रुपया दान करके एक दातव्य औषधालय खुलवा देता है क्योंकि पहला आदमी एक मानव की हैसियत से सहायता करता है केवल अपने अन्दर वाली दया और करुणा से प्रेरित होकर, और दूसरा आदमी एक करोड़पती की हैसियत से दान करता है—स्वर्ग पाने के लिए, या अपने परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ।

और मैंने इस दान के रूप को भी देखा है । यह दान उन व्यक्तियों को मिलता है जो समर्थ हैं, जो समाज के दूषित अंग हैं, जो जोंक बनकर समाज का खून चूस रहे हैं । यह दान कभी भी उस आदमी को नहीं मिलता जिसे सहायता की वास्तव में आवश्यकता होती है । यह दान मनुष्य को नहीं दिया जाता, यह दान दिया जाता है पशु को । दान देनेवाला अपने चाँदी के टुकड़ों द्वारा मानव के स्वाभिमान की, उसके व्यक्तित्व की हत्या करता है । कोई भी स्वाभिमानी आदमी उस दान को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि वह दान मानवीय भावनाओं से युक्त

लेने वाले को गिराता है, और इसलिए दान अपने प्रति तो अपराध है ही, उससे अधिक समाज के प्रति अपराध है। मैंने ऐसे मनुष्यों को देखा है जो कोई काम नहीं करना चाहते, जो जीवित रहने के लिए परिश्रम नहीं करना चाहते, जिन्होंने भिक्षावृत्ति अपनी आजीविका बना ली है, जो शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से अपाहिज बन गये हैं। और मैं समझता हूँ कि ऐसे लोग मनुष्यता के नाम पर कलंक हैं। पर सवाल यह है कि ऐसे लोगों को जन्म किसने दिया ? मनुष्यों को इतना कायर, अकर्मण्य और नपुंसक बनाया किसने ? उत्तर साफ़ है—इन दान देने वालों ने।

परिग्रहण पाप है—ऐसा पाप जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। और दान उससे भी अधिक भयानक पाप है। एक ओर वह परिग्रहण को प्रेरित करता है, दूसरी ओर वह संसार में अपाहिजपन को, गुलामी को, अकर्मण्यता को बढ़ाता है। परिग्रहण समाज के लिए ऐसा विष है जिसका उपचार किया जा सकता है, लेकिन दान ऐसा विष है जिसका कोई उपचार ही नहीं। परिग्रहण निर्बल पर शारीरिक उत्पीड़न है, दान निर्बल की आत्मिक मृत्यु है।

एक दूसरी बात और ! मैं सोचता हूँ कि परिग्रहण ही क्यों हो जिससे दान देने की आवश्यकता पड़े। ये दातव्य औषधालय, ये अनाथालय, ये निःशुल्क शिक्षालय ! इन सबों की ज़रूरत इसलिए है न कि परिग्रहण की नीति से सबल मनुष्यों ने निर्बलों के उनके जीवित रहने के अधिकार से वंचित कर दिया है। और दान द्वारा अपनी आत्मा को छल के तथा उत्पीड़ितों को दूसरों

की दया पर निर्भर एवं मानसिक गुलाम बनाकर वही सबल मनुष्य परिग्रहण को अक्षय बनाते हैं।

देना बुरा है—दान के रूप में, सहायता के रूप में नहीं। दूसरों के दुख से द्रवित होकर दूसरों के दुख को दूर करना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, लेकिन इस स्थान पर देनेवाला लखपती एवं करोड़पती परिग्रहण-कर्ता के रूप में नहीं आता, वह आता है एक मानव के रूप में। सड़क पर पड़े तड़पते हुए रोगी को डाक्टर के यहाँ ले जाकर उसके इलाज पर चार-छै रुपये खर्च कर देनेवाला आदमी उस करोड़पती से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो दस-पाँच लाख रुपया दान करके एक दातव्य औषधालय खुलवा देता है क्योंकि पहला आदमी एक मानव की हैसियत से सहायता करता है केवल अपने अन्दर वाली दया और करुणा से प्रेरित होकर, और दूसरा आदमी एक करोड़पती की हैसियत से दान करता है—स्वर्ग पाने के लिए, या अपने परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए।

और मैंने इस दान के रूप को भी देखा है। यह दान उन व्यक्तियों को मिलता है जो समर्थ हैं, जो समाज के दूषित अंग हैं, जो जोंक बनकर समाज का खून चूस रहे हैं। यह दान कभी भी उस आदमी को नहीं मिलता जिसे सहायता की वास्तव में आवश्यकता होती है। यह दान मनुष्य को नहीं दिया जाता, यह दान दिया जाता है पशु को। दान देनेवाला अपने चाँदी के टुकड़ों द्वारा मानव के स्वाभिमान की, उसके व्यक्तित्व की हत्या करता है। कोई भी स्वाभिमानी आदमी उस दान को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि वह दान मानवीय भावनाओं से युक्त

सहायता के रूप में नहीं होता, वह होता है एक समर्थ और घमण्डी आदमी की कृपा के रूप में।

मैंने उन संस्थाओं को भी देखा है जो दान के बल पर चलती हैं। उन संस्थाओं में वही लोग प्रवेश पा सकते हैं जो समर्थ हैं, जिनके पास साधन हैं, जो समाज में इतने ऊँचे हैं कि वे उन संस्थाओं के प्रबन्धकों से मिल-जुल सकें। मैं पूछता हूँ कि फुटपाथ पर रात काटने वाला मज़दूर भला किस प्रकार उन प्रबन्धकों के पास पहुँच सकता है ? और नतीजा यह होता है कि दान का फ़ायदा उठाते हैं वे लोग जो दान-कर्त्ता के भाई-बन्द हैं। अकसर तो यह होता है कि दान देनेवाले ही अपने दान द्वारा चलने वाली संस्थाओं में यह व्यवस्था कर देते हैं कि उनके भाई-बन्द ही उनके दान का फ़ायदा उठाने पावें।

और इतना सब लिख लेने के बाद फिर वही पंडाल, जिसमें अहिंसा और धर्म पर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिये जाते हैं, वही जन-समुदाय जो भक्ति और भावना में गद्गद् होकर अश्रु-विमोचन करता है, और वह दफ्ती जिस पर लिखा है "परिग्रहण पाप है——दान उसका प्रायश्चित्त है।" मेरी आँखों के आगे आ जाते हैं। परिग्रहण करनेवाले और दान देने वाले उस समूह की आत्मछलना, उसकी पाशविकता, उसकी अहम्मन्यता के कारण ही आज करोड़ों आदमी रौरव नरक में पड़े हुए सड़ रहे हैं।

मैं केवल एक बात जानता हूँ——परिग्रहण पाप है और दान उस पाप को हरदम क़ायम रखनेवाला साधन है। परिग्रहण का कोई प्रायश्चित्त नहीं, अगर कोई प्रायश्चित्त हो सकता है तो वह होगा परिग्रहण को ही छोड़ना।

एक साहित्यिक दृष्टिकोण

एक बार हिन्दी के कुछ साहित्यिकों में यह प्रश्न उठा कि क्या कला का वह रूप जो रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में मनुष्यों को देवताओं और दानवों के रूप में देखता है, जो स्वर्ग और नरक के सपनों से अलंकृत है, जो पाप और पुण्य की व्याख्या में ही जीवन का सार देखता है, उचित है ?

हिन्दी के एक प्रमुख साहित्यिक उस सभा में मौजूद थे। उनका मत था कि कला का वह रूप उचित है, उपयोगी है। साथ ही, वहाँ कुछ और लोग भी थे जिन्हें उस रूप के औचित्य और उपयोगिता पर शंका थी।

बात रामायण और महाभारत से उठी थी और उन महान ग्रन्थों की कला को अनुचित कहना अधिकांश हिन्दी वाले अनुचित कहने वालों की अनधिकार चेष्टा कहेंगे। मैं भी उन लोगों में एक हूँ, पर मेरा कहना किसी दूसरी बिना पर होगा। मैं तो इतना सोच रहा हूँ, 'क्या जो ग्रन्थ हजारों वर्ष से जीवित हैं वे अनुचित कला की नींव पर खड़े हैं ? क्या वाल्मीकि और व्यास आज भी जिन्दा नहीं हैं ?' मैं साफ देखता हूँ कि उनकी कला में वह जीवन है जो उन्हें आज तक ज़िन्दा रक्खे है और भविष्य में भी एक लम्बे अरसे तक ज़िन्दा रख सकेगा। उसको अनुचित कहना हमारी अनधिकार चेष्टा है।

हाँ, यह मैं ज़रूर जानता हूँ कला का वह रूप आज के युग में उपयोगी नहीं हो सकता है। मैं समझता हूँ कि युग बदल गया है और मानव-समाज आज कहीं विकसित अवस्था में है। आज हमारा इतना अधिक बौद्धिक विकास हो चुका है कि बहुत से लोग राम के देवत्व पर और रावण के निशाचरत्व पर विश्वास करने को तैयार नहीं। हनुमान ने सूर्य को अपने मुख में रख लिया, रावण के दस सर थे और एक सर गधे का था—यह सब शिक्षित-समाज के लिए हास्यास्पद चीज़ बन गई है। जिस काल में यह सब लिखा गया था उस समय लोगों में विश्वास था, कल्पना थी। उस समय लोग उन बातों पर विश्वास कर सकते थे, पाप-पुण्य की परिभाषाओं के अनुसार अपनी ज़िन्दगी को ढालने का प्रयत्न कर सकते थे, स्वर्ग का उन्हें लोभ था, नरक से वे डरते थे।

आज भी वैसे लोग हिन्दुस्तान में मौजूद हैं, पर उन लोगों की संख्या दिनों-दिन कम होती जा रही है। मैं जानता हूँ कि रामायण का जितना आदर बीस वर्ष पहले था, आज नहीं है। और अब कितने घरों में महाभारत मिलेगा, पुराण मिलेंगे ?

जो कुछ लिखा गया है, कला के पुराने रूप के अनुसार महान कलाकारों द्वारा जो कुछ निर्मित हो चुका है, धर्म की परम्परा जिसके साथ सम्बद्ध है वही अब अधिक दिनों तक जिन्दा न रह सकेगा। फिर उसके अनुसार किसी नई चीज़ की सृष्टि तो बिल्कुल जीवन हीन साबित होगी।

जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है जिसमें अप्राकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक

सफल न हो सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। आज का विकसित मस्तिष्क कल्पना के पेंच-ताव की सहायता नहीं चाहता, रुपयों से उसे विशेष रुचि नहीं; वह चाहता है सीधी-सादी वातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ जिन्हें वह रोज़ देखता है। और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा।

जिसे हम 'पाप' कहते हैं उसे हम 'कमजोरी' भी कह सकते हैं। 'पाप' और 'कमजोरी' एक ही चीज़ के दो नाम हैं—उनमें कोई अन्तर नहीं; पर इन दो शब्दों के अन्दर निहित मानवीय भावनाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

"वह पापी है।" कहनेवाले मनुष्य के अन्दर घृणा की भावना है। हम यह मानते हैं कि इस घृणा की भावना का मूल कारण कर्म है, व्यक्ति नहीं; लेकिन हम उस समय मनुष्य के कर्म को भूलकर व्यक्ति को उसका उत्तरदायी वना देते हैं। मनुष्य को और उसके कर्म को हम एक मान लेते हैं। यही नहीं, हमारे अन्दर भी घृणा की, असहिष्णुता की भावना प्रवल हो जाती है।

और जब हम कहते हैं, "वह कमज़ोर है।" तब हम मनुष्य को और उसके कर्म को अलग कर देते हैं। कर्म के प्रति विरोध होते हुए भी मनुष्य के प्रति हम में सहानुभूति होती है। उस समय हमारे अन्दर भी घृणा और असहिष्णुता की भावना के स्थान पर दया और सहानुभूति की भावना होती है।

'पापी' और 'कमजोर'—इन दो शब्दों में एक ही मनुष्य को दो नज़रों से देखा जाता है। 'पापी' कहने के समय हम 'मनुष्य'

46157

की उपेक्षा करते हैं, यानी हम में कोई भी मानवीय भावना नहीं रह जाती, हमं 'व्यक्ति' को उपेक्षाजनक प्राणी समझते हैं हमें मतलव केवल उसके कर्मों से रहता है। दूसरे मनुष्य के कर्मों को हम अपने हिताहित के दृष्टिकोण से देखते हैं, और उस समय हम अपने हिताहित को इतनी अधिक महत्ता दे देते हैं कि हम मानवता से अलग होकर दूसरों को अपनी निजी भावना और सुख-दुख का साधन समझने लगते हैं। और वहीं घृणा का एवं असहिष्णुता का जन्म होता है। पर जव हम मनुष्य को 'कमज़ोर' कहते हैं तब हम 'मनुष्य' को देखते हैं, उसके कर्मों को हम अधिक महत्व नहीं देते , हमारी सहानुभूति, सदिच्छा 'मनुष्य' के साथ रहती है। उस समय हमारा 'अपनापन' इतना अधिक विकसित होता है कि हम पूर्ण मानव वनकर दूसरों को अपने प्रति निकट यहाँ तक कि 'अपना' समझने लगते हैं।

× × ×

हमें इस पाप-पुण्य की घृणा से ऊपर उठना है, हमें मनुष्य के कर्मों को न देख कर मनुष्य को देखना है। मनुष्य के कर्म बुरे हैं, इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने के स्थान पर हमें करना यह है कि हम उसको दया, प्रेम, सहानुभूति से प्रभावित करके उसके कर्मों को सुधारें क्योंकि वह मनुष्य है—वह अपना है।

इस वात को वहुत से लोग पागलपन का सपना समझ सकते हैं, समझते भी हैं। पर इतना तय है कि एक लम्बे बौद्धिक विकास के वाद ही इस सपने को मनुष्य ने देखा और दिन प्रतिदिन उस सपने पर मानव-समाज का विश्वास बढ़ता जाता है

मैं पूछ रहा हूँ कि जब हमने स्वर्ग और नरक का निर्माण किया, जब हमने देवता और दैत्य गढ़े, जब हमने लोगों को पाप और पुण्य के बन्धनों से बाँधा, क्या तब हम मानवता का कल्याण करने में समर्थ हो सके ? यह सब जो हमने किया था मनुष्य के हित के लिए, ईमानदारी के साथ किया था, पर इसमें हम बुरी तरह असफल रहे। हमने 'पाप' बनाए और हमने 'पाप' की महत्ता लोगों पर उनमें अंध-विश्वास भर के स्थापित की। उन पापों से मुक्ति पाने के लिए हमने व्रत-उपवास, मन्दिर-मठ, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान आदि विधान भी बनाए। हमने मनुष्य को शूद्र कहा, चाण्डाल कहा, म्लेच्छ कहा। हमने लोगों को भूखों मारा और अन्त में हमारा इतना भयानक पतन हुआ कि विदेशियों ने हमें गुलाम बना लिया। हम जो पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक पर विश्वास करने वाले थे, हमी ने स्त्री को सम्पत्ति समझा सीता को जंगल में निकाल दिया, द्रौपदी को पाँसे पर हार गये। हम जो पशुओं तक पर दया करनेवाले थे, हमीं ने शूद्रों के कान में, वेदमंत्र पड़ जाने से, सीसा गला कर भर दिया।

यह निश्चय है कि उस धर्म से और धार्मिकता से मानवता का तो कल्याण नहीं हुआ बल्कि विकास की गति से प्रेरित मनुष्य के मार्ग में बाधाएँ ही आईं। पर विकास मनुष्य का जीवन है ——और इसीलिए यह अंधविश्वास, यह धर्म द्वारा जनित-पाप-पुण्य की असहिष्णुता होते हुए भी मनुष्य ने बराबर कल्पनाएँ कीं, सपने देखे। पशुता से अलग हट कर मनुष्य मानवता को विकसित करता रहा।

× × ×

आज हमें जिस साहित्य का सृजन करना है वह वास्तविक मानवीय विकास के आदर्शों को ही सामने रक्खेगा। और उन आदर्शों का प्रचार करने के लिए हमें अपनी कला की नीति भी बदलनी होगी। हमें पाप से युद्ध करके उसे निर्मूल नहीं करना है। हमें तो मानव की कमजोरी पर विजय पाना है। जहाँ पाप है वहीं घृणा है, असहिष्णुता है, हिंसा है, संघर्ष है, पशुता है। इस पशुता और हिंसा से हम अपना हित नहीं कर सकते क्योंकि इसी हिंसा और पशुता के ऊपर हमें उठना है।

मैं यह मानता हूँ कि एकाएक अपनी जिन्दगी को अहिंसामय वना लेना कठिन है, पर मैं कहता हूँ कि बदल लेना असम्भव नहीं है। फिर साहित्य तो पथ-प्रदर्शक है। कर्म को संचालित करनेवाली भावना होती है, लेकिन कर्म शासित होते हैं बुद्धिजनित विचार से। भावना और विचार—जब तक ये न वदलेंगे तव तक कर्मों का वदलना असम्भव है।

हम साहित्यिक बौद्धिक प्राणी हैं, और साहित्य भावना एवं विचार पर केन्द्रित होता है। इसलिए हम साहित्यिकों की वड़ी जवर्दस्त जिम्मेदारी है। हमें युग की विचार-धारा को बदलना है, हमें उस आदर्श-संसार का सृजन करना है जो कल्याणकारी हो, सत्य हो, सुन्दर हो।

हम हिन्दी के साहित्यिकों का जीवन कटुता से भरा हुआ है। पग-पग पर हमें उपेक्षा मिलती है अपमान मिलता है। जिन परिस्थितियों में हमें रहना पड़ता है, उनसे हम पागल नहीं हो जाते—यही बहुत है। हम युग के निर्माता जीवित रहने के लिए अर्थ के पिशाच पर अवलम्वित हैं। वज्रमूर्ख, असभ्य,

अशिष्ट और असंस्कृत लखपती एवं करोड़पती दानी और महान बनकर साहित्यिकों से पुस्तकें समर्पित करा सकते हैं, साहित्यिक-संस्थाओं के संरक्षक बन सकते हैं, साहित्यिकों की हँसी उड़ा सकते हैं, उन्हें बेवकूफ बना सकते हैं।

और यहीं हमें सावधान रहना है, हमें संयम से काम लेना है। अगर वह कटुता जो हमें दूसरों से मिलती है, हमारे अन्दर वाली कटुता को भड़का सकी, अगर वह पशुता से भरी हिंसा जिसका हमें पग-पग पर मुकाबिला करना पड़ता है, हमारे अन्दरवाली पशुता से भरी हिंसा को सतह पर ले आई तो हम स्वयं अपने को मार लेंगे। तब तो हम भी केवल वही लिख सकेंगे जो अभी तक लिखा गया है और जो कल्याणकारी नहीं बन सका।

नहीं, इस सब से काम नहीं चल सकेगा। हमें साधना करनी है, स्वयं भूखों मर कर दूसरों को जीवित रखने का प्रयत्न करना है। नियति की ओर से हम इस काम के लिए आए हैं, और हमें मस्तक नमाकर अपने कर्त्तव्य को स्वीकार करना होगा। क्या इतनी अधिक कटुता, घृणा, हिंसा जो दुनिया में भरी है, दुनिया के विनाश के लिए काफी नहीं है?

मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हम साहित्यिकों को अपने चारों तरफ़ देखना है, दूसरों के दुख-दर्द को, दूसरों की कमजोरियों को अनुभव करना है। हमें मनुष्य को देखना है, उसके कर्मों से सरोकार है। मनुष्य की उपेक्षा करके उसके कर्मों पर अपना निर्णय देना मानवता के लिए हितकर नहीं है।

विचार-विनिमय

(१)

मेरे एक दोस्त हैं, पढ़े-लिखे समझदार आदमी। एक दिन मुझसे बोले, "हम दो-चार मित्र सप्ताह में एक आध बार मिल-कर विचार-विनिमय क्यों न किया करें। हम लोग सब-के-सब शिक्षित आदमी हैं और ऐसी हालत में एक दूसरे के दृष्टिकोण से परिचित होकर एक सही मत निर्धारित कर लें——इसमें क्या हर्ज है ?"

बात कुछ ऐसी बेजा न थी, और मुझे अधिक सोचने का मौक़ा भी न था। मैंने स्वीकृति दे दी और अगले रविवार को मेरे चार मित्र मेरे यहाँ चाय पीने और चाय पीकर विचार-विनिमय करने के लिए एकत्रित हुए।

इन चार मित्रों के नाम बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं, सुविधा के लिए हम उन्हें राम, कृष्ण, सूर्य और चन्द्र कहेंगे। राम एक पत्र के सम्पदक हैं, कृष्ण एक कालेज में अध्यापक हैं, सूर्य एक सार्वजनिक संस्था के मन्त्री हैं और चन्द्र काँग्रेस के नेता हैं।

चारो सज्जन एकत्रित हुए, आपस में कुशल-क्षेम की बातें हुई और फिर राम ने चन्द्र से पूछा, "महात्मा गांधी की अहिंसा पर आप कहाँ तक विश्वास करते हैं और क्यों करते हैं ?"

चन्द्र ने एक छोटा-सा उत्तर दिया, "महात्मा गांधी की अहिंसा पर मैं पूर्ण रूप से विश्वास करता हूँ और इसलिए विश्वास करता हूँ कि अहिंसा जीवन का एकमात्र सत्य है।"

कृष्ण साम्यवादी थे, या यों कहिए हैं। उन्होंने छूटते ही कहा, "अहिंसा कायरता है, अकर्मण्यता है। महात्मा गांधी राष्ट्र के सामने कायरता का प्रचार करने के अपराधी हैं। और मुझे आप लोगों पर ताज्जुब होता है कि ऐसे ढोंगी और कपटी आदमी को आप देवता की तरह पूजते हैं।"

सूर्य जो महात्मा गांधी के उतने अधिक भक्त न थे जितने वे साम्यवाद के विरोधी थे कृष्ण की बात सुनकर उबल पड़े। बोले, "अपनी पशुता को लेकर अनगिनती मनुष्यों की भी नहीं बल्कि ईश्वर तक की हत्या करनेवाले उस शैतान लेनिन के गुलाम अगर यह समझते हैं कि उनके महात्मा गांधी आदि महापुरुषों को गालियाँ देने से हमें आश्चर्य होगा तो वे गलती करते हैं।"

इस पर राम ने अजीब तरह से मुँह बनाते हुए कहा, "हाँ साहेब, आप पूंजीपतियों के आका गांधी का समर्थन तो करेंगे ही।"

और मैं आश्चर्य से इस विचार-विनिमय को तथा विचार-विनिमय करनेवालों को देख रहा था। गाली-गलौज हुई, मेज़ पर घूँसे मारे गये। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि उन्होंने आपस में एक दूसरे को घूँसे क्यों नहीं मारे। और मेरे नए चाय के सेट के दो प्याले और पाँच रकाबियाँ टूट गईं।

(२)

इस प्रकार के विचार-विनिमय मैं करीव-करीव रोज़ ही देखता हूँ, और कभी-कभी मुझे भी, अपनी इच्छा के प्रतिकूल इस प्रकार के विचार-विनिमय में भाग भी लेना पड़ता है। एक-आध वार एक-आध सज्जन जिज्ञासुओं की भाँति मेरे पास आए। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, और मेरे उत्तर को वीच ही में काटकर मुझ पर अपनी विचार-धारा को स्पष्ट करके उन्होंने मुझे उस विचार-धारा को स्वीकार करने के लिए मजवूर करने का भी प्रयत्न किया। और मैं देख रहा था कि उनके पास कुछ रटे हुए फ़िकरे थे, एक विदेशी शब्द जाल था। ऐसा मालूम होता था कि वे लोग पढ़ भागे हैं। जो कुछ उनकी नज़र में पहले-पहल पड़ा उसे ही उनके कच्चे दिमाग ने जीवन के एक अडिग-सत्य की तरह अपना लिया। मैंने साफ देखा कि उनके पास अपनी कोई निजी विचारधारा नहीं। वे लोग विदेशी विचारकों के गुलाम वन गए हैं। और अव वे सोचना-समझना भी नहीं चाहते।

इस प्रकार के विचार-विनिमय द्वारा हमारी समस्या और भी जटिल हो गई है। हम दूसरों से जानने के लिए, सीखने के लिए कव वातें करते हैं? हम तो दूसरों से वातें करते हैं दूसरों को अपने सामने झुकाने के लिए, दूसरों को अपने तर्क से पराजित करने के लिए। उस समय हम में केवल एक भावना रहती है—किसी तरह अपने सिद्धान्त को दूसरे के सामने स्थापित करना और दूसरों के कथन को गिराना। हम तर्क नहीं करते, हम युद्ध करते हैं, और वही युद्धवाली हिंसा की कटुता हम एक

दूसरे के साथ वरतते भी हैं। और अन्त में इस विचार-विनिमय के बाद हम पाते क्या हैं ? मैंने आज तक नहीं देखा कि दो विचार-विनिमय करनेवालों में एक ने दूसरे की बात मान ली हो। दोनों ही अन्त तक अपनी बातों पर अड़े रहे और उठे एक दूसरे के प्रति कटुता की, विरोध की, हिंसा की भावना लिए हुए।

और आज मैं सोच रहा हूँ—इस विचार-विनिमय से लाभ? यह समय की वर्बादी, यह मन को थका देनेवाली कटुता—इस सबके बदले में हम पाते क्या हैं ?

दूसरों से तर्क करने की प्रवृत्ति अपने अहम को प्रधानता देने की प्रवृत्ति है क्योंकि उस समय हमारा लक्ष्य सामंजस्य स्थापित करना नहीं होता—हमारा लक्ष्य होता है विरोध और संघर्ष। एक-रसता सामंजस्य में है; संघर्ष में नहीं है, और इसलिए यह विचार-विनिमय, एक दूसरे के साथ यह तर्क-वितर्क केवल एक वाक्-युद्ध है और इसका काम है विनाश—निर्माण नहीं।

(३)

और मैं पूछता हूँ कि लोग अपने ही अन्दर तर्क क्यों नहीं करते ? दूसरों से तर्क करनेवाले कितने वास्तव में सत्य की तलाश में निकलते हैं ? अपने अन्दर वाले तर्क में ईमानदारी है, ज्ञान पाने की अभिलाषा है, चेतना है।

दूसरों की वातें सुनो, पढ़ो, लेकिन उन वातों पर सोचो, अपने ही अन्दर उन वातों पर तर्क करो। उस समय तुम्हारे सामने वाहरी संघर्ष न रहेगा और उस संघर्ष द्वारा उत्पन्न वह विकृत मानसिक स्थिति जो सत्य के प्रति जवर्दस्ती तुम्हारी आँखें बन्द कर देती है, न रहेगी। उस समय तुम वास्तव में

अपने अहम् को विकसित कर सकोगे क्योंकि तुम्हारे तमिसी अहम् का प्रतिद्वंद्वी 'दूसरा अहम्' तुम्हारे सामने न होगा। तुम्हारे सामने होगी एक विचारधारा जिसमें वहुत सम्भव है तुम्हें कोई ऐसी वात मिल जाय जो तुम्हारे दृष्टिकोण को, तुम्हारे अस्तित्व को वहुत वड़ा सहारा दे सके।

मैं वाहरी तर्कों से घवराता हूँ। जो शिकायत मुझे अन्य लोगों से है वही शिकायत अन्य लोगों को मुझसे भी है। अगर मैं दूसरों में असहिष्णुता देखता हूँ तो दूसरे भी मुझमें असहिष्णता देखते हैं। और मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे व्यवहार से प्रायः असहिष्णुता ज़ाहिर होती है। लेकिन मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वह असहिष्णुता नहीं है, वह एक झुँझलाहट है। जब दूसरे लोग पाश्चात्य विचारकों की बातों को बिना उन पर सोचे-समझे, अपना सत्य बना कर आते हैं, मुझसे तर्क करने, मुझे अपनी विद्या-बुद्धि से पराजित करने तव यह स्वाभाविक ही है कि मुझमें झुँझलाहट पैदा ही हो। वे मुझसे इस प्रकार वातें करते हैं मानो मैं वे वातें ज़िन्दगी में प्रथम बार सुन रहा हूँ।

जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुंचा हूँ जो अनुभवों ओर अनुभूतियों पर अवलम्वित हैं। वहुत सम्भव है जो वातें आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चल कर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत उतरें और मुझे स्वयं अपने निर्णयों को वदलना पड़े। पर इसके ये अर्थ नहीं कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ! मुझे अपने जीवन के लिए कुछ आदर्श तो चाहिए ही।

(४)

अगर हम समय-समय पर अपने अतीत को देख लें, अपनी ज़िन्दगी की सफलताओं और असफलताओं को तथा उनके कारणों को समझने की कोशिश करें, हमने कितनों को मिटाया, कितनों को पीड़ित किया, कितनों को बिगाड़ा और इस सब से हमें कितना लाभ हुआ था कितनी हानि हुई, अगरे हम इस पर गौर कर लें तो शायद हमें जीवन के सत्य को जानने में काफ़ी अधिक सहायता मिले। रोज रात के समय ठंढे दिमाग से सोने के पहले अगर हम ईमानदारी के साथ अपने दिन भर के कामों पर एक नज़र डाल लें और अपने कर्मों के दूसरों पर प्रभाव की तथा परिणाम की कल्पना कर लें तो बड़ा अच्छा हो।

अकारण ही हम कड़ी बात कह देते हैं, अकारण ही हम दूसरों का अपमान कर देते हैं, अकारण ही हम दूसरों को दुखा देते हैं। हमें इससे कोई लाभ नहीं होता फिर भी हम ऐसा क्यों करते हैं? इसका मुख्य कारण यह है कि हमने कभी इन बातों पर विचार नहीं किया। मनुष्यता की माप बहुत छोटी-छोटी बातों में मिला करती है। लम्बे-लम्बे सिद्धान्तों पर बहस-मुबाहिसा करनेवाले लोग मनुष्यता से कितनी दूर रहते हैं यह मैं रोज़ ही देखता हूँ। जब तक हम अपनी ज़िन्दगी को अपने विश्वासों के अनुसार ढाल नहीं सकते तब तक यह हमारा सारा वहस-मुबाहिसा एकदम गलत है।

मैं फिर कहता हूँ—अपने अन्दर तर्क करो। दूसरों को देवता मत मानो, दूसरों को देवता मानना अपने अन्दर असमर्थता से भरी गुलामी को पालना है। तुम स्वयं समझ सकते हो, तुम

स्वयं अपने जीवन का निर्माण कर सकते हो। दूसरे क्या कहते हैं, उसे सुन लो फिर अपने ही अन्दर उन बातों पर सोचो, उन पर तर्क करो। इस प्रकार दूसरों का सहारा लेकर तुम अपने अन्दर वाले सत्य को पा सकते हो।

तुम मानव हो, तुम्हारे पास बुद्धि है। तुम किसी से कम नहीं हो, चाहे वह मार्क्स हो चाहे वह गांधी हो। केवल तुम्हें अपनी बुद्धि विकसित करनी है। और अपनी बुद्धि को विकसित करने के लिए आवश्यकता है स्वाध्याय की। यही नहीं, इस बुद्धि द्वारा अपने कर्मों को भी तुम्हें संचालित करना होगा।

इस विचार-विनिमय से तुम्हें कोई फ़ायदा नहीं होगा। हाँ, तुम एक-दूसरे को गाली भले ही दे लो, यही नहीं हाथ-पैर पटक कर चाय के प्यालों को या चाय की तश्तरियों को भले ही तोड़ डालो, लेकिन इस प्रकार के विचार-विनिमय से तुम्हें सिवा कटुता के और कुछ हाथ न लगेगा।

मेरे वे मित्रगण आज भी मुझसे मिलते हैं, आपस में विचार-विनिमय करते हैं और अपने विचार-विनिमय में कभी-कभी मुझे भी शरीक कर लेते हैं। पर मैं उन विचार-विनिमय करने-वाले अपने जिम्मेदार और बुद्धिमान मित्रों को देखता हूँ और मुझे ऐसा लगता है कि उनकी आत्मा संघर्ष की प्रतिहिंसा से धुँधली पड़ गई है। उनके पास साहनुभूति नहीं है, सहिष्णुता नहीं है। उनके पास केवल शब्द-जाल है और जीवन की एक भयानक कुरूपता है। मैं सोच रहा हूँ—काश ये विचार-विनिमय करनेवाले सज्जन अपने अन्दर ही तर्क कर सकते।

सुविधा का धर्म

शहर का नाम और लोगों का नाम बताना बेकार है, यह जान लेने से काम चल जायगा कि यह क़िस्सा एक बड़े शहर का है, और बात उन लोगों की है जो सम्पन्न हैं, धर्म निष्ठ हैं। उस समय लोग भोजन कर रहे थे। एक सज्जन ने—सुविधा के लिए हम उन्हें 'क' नाम से सम्बोधित करते हैं, कहा—"साहेब, मैं तो कहता हूँ कि घी घर का ही अच्छा होता है, बाज़ार में अच्छा घी मिलना असम्भव है।"

'क' की बग़ल में एक और सज्जन बैठे थे जिन्हें हम 'ख' कहेंगे। 'ख' किसी हद तक मुँहफट थे। उन्होंने छूटते ही कहा, "और असली घी मिल कहाँ से सकता है, जब हिन्दुस्तान में जगह-जगह घास के घी की मिलें खुल गई हैं और खुलती जा रही हैं।"

'क' मिलमालिक थे और एक वनस्पति घी की मिल उनकी भी थी। उन्होंने समझ लिया कि संकेत उनकी तरफ़ है। उन्होंने गम्भीरता पूर्वक कहा—"पर वनस्पति की मिलों के खुलने पर आपत्ति क्यों की जाती है ? हिन्दुस्तान में इतने आदमी हैं—सबों को असली घी मिल नहीं सकता। ग़रीबों के लिए वनस्पति घी सस्ता पड़ता है, और उन्हीं के लिए यह तैयार किया जाता है।"

'ख' साहेब खिलखिला कर हँस पड़े, "लेकिन मैं तो देखता हूँ कि यह वनस्पति घी अमीरों को और ग़रीबों को समान भाव से मिलता है। बाज़ार में कहीं असली घी मिल ही नहीं सकता, यह बात आप अभी स्वयं स्वीकार कर चुके हैं।"

बातों का दौर आरम्भ हुआ, इस साधारण-सी बात को लेकर देश के तथा दुनिया के बड़े-से-बड़े प्रश्नों पर बहस-मुबाहिसे हुए। लेकिन बात वहीं-की-वहीं रही कि देश में असली घी के नाम पर वनस्पति घी बिकता है—और ज़ोरों के साथ बिकता है, और यह लाख कोशिश करने पर भी नहीं रुक सकता।

इस मिलवा घी के बिकने से उस समय मुझे कोई सरोकार नहीं था, मैंने तो उस बात-चीत में लोगों की मनोवृत्ति को दुनिया को कसनेवाली उनकी कसौटी को देखा। जिस समय एक सज्जन कहते हैं कि वे वनस्पति घी ग़रीबों के लिए बनाते हैं, वे यह मान लेते हैं कि ग़रीबी अनिवार्य है और ग़रीब लोग निकृष्ट कोटि के प्राणी हैं, ग़रीबों को अच्छा खाने का कोई अधिकार नहीं। वनस्पति घी का असर स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता, इस बात को ध्यान में रख कर यह भी कहा जा सकता है कि उन सज्जन के मतानुसार यह ज़रूरी नहीं कि ग़रीब लोग अधिक काल तक जीवित रहें, यानी ग़रीबों को जल्दी मरना चाहिये।

और मैं सोच रहा हूँ कि प्रत्येक मनुष्य में जीवित रहने की चाह है, जानबूझ कर कोई भी आदमी अहितकर तथा स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला भोजन न करेगा। मैं पूछ रहा हूँ कि देश में कितने आदमी हैं जो जानबूझकर वनस्पति घी खाते हैं।

वनस्पति घी को वनस्पति घी के नाम से खरीदनेवाले होते हैं। होटल, हलवाई और वे लोग जो असली घी में इस घी को मिलाते हैं, माना कुछ ग़रीब आदमी भी हैं जो अपने यहाँ दावतों में इस घी का प्रयोग करने लग गए हैं, और बड़े-बड़े शहरों में कुछ मध्यवर्ग के आदमी भी सीधे वनस्पति किफ़ायत के लिए ख़रीदते हैं——लेकिन अधिकांश में इस घी की विक्री होती है धोखा देनेवालों के हाथों।

मैं कहता हूँ कि प्रत्येक वनस्पति घी का मालिक यह जानता है कि वनस्पति का प्रयोग अधिकांश में जनता को धोखा देने में होता है और ये मिल-मालिक ईमानदार, धर्मनिष्ठ तथा सदा-चारी होने का दम भरते हैं।

मैं अपने चारो ओर देखता हूँ, और मुझे ईमानदारी नाम की चीज़ नहीं नज़र आती। हर तरफ़ बेईमानी, हर तरफ दग़ा-बाज़ी। हिन्दुस्तान की नैतिकता बुरी तरह नीचे गिर गई है।

घी क्यों, कोई भी चीज़ ले लें, अगर उस चीज़ में मिलावट सम्भव है तो वह असली हिन्दुस्तान में मिल भी नहीं सकती। मेरे एक मित्र को शहद की ज़रूरत थी——वे एक अंग्रेजी दूकान से अमेरिका से आनेवाला शहद खरीद लाए। उन्होंने मुझ से कहा कि असली शहद हिन्दुस्तान में मिल ही नहीं सकता। यह नहीं कि यहाँ शहद पैदा न होता हो, लेकिन हर शहद बेचनेवाला शहद में मिलावट कर देता है।

छोटे-छोटे वनियों की दूकानों से मैंने चीनी मँगवाई है, और उस चीनी में मिली हुई कभी तो मिली रेत, कभी संगजरात की बुकनी और कभी रवा।

हरएक आदमी अमीर होना चाहता है, हम भयानक रूप से धन के ग़ुलाम हो गए हैं। इस धन के पिशाच ने हमारी सारी नैतिकता, हमारी सारी मानवता, हमारा सारा धर्म-कर्म अपने पैरों नीचे कुचल दिया है। कहीं भी सचाई नहीं, कहीं भी भरोसा नहीं।

और मैं कहता हूँ कि यह सब तब तक नहीं बदल सकता जब तक हम मानवता के असली धर्म को नहीं समझते। हमारा वर्तमान धर्म सुविधा का धर्म है, हम सोचते नहीं, हम परिणाम पर ध्यान नहीं देते, हम केवल जो कुछ हमारे सामने है उसे देखते हैं। और अगर हमारे दिल को चोट नहीं लगती तो हम समझ लेते हैं कि जो कुछ हम करते हैं वह ठीक है।

मैं जानता हूँ ऐसे बड़े-बड़े सम्पन्न सेठों को जो लाखों रुपया दान में देते हैं, लोगों को तड़पते हुए देखकर जिनका जी भर आता है, जो रक्तपात के नाम से सिहर उठते हैं, जो निरामिष भोजी हैं। वे नेक आदमी हैं, मैं स्वीकार करता हूँ, वे धार्मिक हैं। अपनी जान में वे कोई पाप नहीं करते, वे सदा कोशिश करते रहते हैं कि मरने के बाद उन्हें स्वर्ग मिले।

लेकिन मैं कहता हूँ कि यदि वे अपने जीवन के अपने कर्मों के वास्तविक रूप को देख सकते तो जिसे वह रौरव नरक कहते हैं, उसके भय से वे काँप उठते। करोड़ों रुपया जो वे पैदा करते हैं, आता कहाँ से है ? यह उन्होंने कभी नहीं सोचा। उनके पास करोड़ों की रक़म आने के कारण कितने आदमियों को पैसे के अभाव में भूख और ठण्ढ से तड़पकर मर जाना पड़ता है, इसको जानने की क्या उन्होंने कभी कोशिश की है ? वह

आदमी जो निरामिषभोजी है, सूद लेकर मनुष्य का खून चूस लेता है, क्या कभी उसने यह सोचा है ? इस सुविधा के धर्म के उपासक होने के कारण ही मनुष्य के अन्दर वाली नेकी घुट-घुटकर मर जाती है, मनुष्य-मनुष्य न रहकर पिशाच बन जाता है।

हमें इस सुविधा के धर्म को तिलांजलि देनी होगी। हमें वास्तविकता को देखना होगा और वास्तविकता पर सोचना पड़ेगा। यज्ञोपवीत धारण करनेवाले, गंगा-स्नान करनेवाले, छुआछूत माननेवाले धर्म की अब हमें ज़रूरत नहीं, हमें ज़रूरत है उस धर्म की जो दया, प्रेम और त्याग की नींव पर खड़ा हो, जो सत्य से भागे नहीं, जो सत्य को साहस के साथ देखे और वर्तमान कठिनाइयों का मुकाबिला करे।

मैं उन सज्जन को जानता हूँ जिन्होंने ग़रीबों की भलाई के लिए वनस्पति घी की मिल खोल कर लाखों रुपया पैदा किया है। समाज में उनका आदर है, मान है। और उन्हें इस बात का ज्ञान है कि लोग उनकी इज्ज़त करते हैं--उन्हें इस बात का गर्व भी है। लेकिन मैं सच कहता हूँ कि लोग उनका आदर नहीं करते, लोग उनके पैसे का मान और आदर करते हैं। उनके घनिष्ट मित्र तक उनके पीठ पीछे उनकी बुराई करते हैं। उनसे रोज़ मिलनेवाले, उनकी हर समय खुशामद करनेवाले उन्हें मन ही मन गालियाँ देते हैं। पर उनको दूसरों की भावनाओं का पता नहीं, उनके पास सुविधा का धर्म है, और उस सुविधा के धर्म में उन्होंने अपने को डुबा दिया है।

अकसर लोग ग़लत काम करने के समय कह देते हैं कि

सभी ऐसा करते हैं, हम क्यों न करें। पर यह कहने वाले यह भूल जाते हैं कि यह 'सभी' एक-एक व्यक्ति को मिलकर बनता है। मैं तो हरेक आदमी से कहूँगा कि 'सब' को बनानेवाले 'तुम' हो। अगर हरेक यह कहनेवाला आदमी कि 'सभी' ऐसा करते हैं 'हम' क्यों न करें, स्वयं नेक और ईमानदार बनने का प्रयत्न करने लगे तो यह 'सभी' ग़ायब हो जायगा।

एक बात और मेरे सामने आती है। आरम्भ करनेवालों को पहले-पहल कुछ नुकसान होगा, उन्हें कष्ट होगा, सम्भव है उन्हें भूखों भी मरना पड़े। पर मैं कहता हूँ कि क्या शरीर की मृत्यु से आत्मा की मृत्यु अधिक भयानक नहीं है? इस शरीर की रक्षा करने के लिए आत्मा को शैतान के हाथ सौंप देना क्या कायरता नहीं है? हम पैदा हुए हैं, हमें मरना भी है। सारा सवाल यह है कि हम पैदा क्यों हुए हैं?

मैं तो एक बात जानता हूँ, हम पैदा हुए हैं मनुष्यता के विकास में सहायक होने के लिए। एक बार नहीं। हज़ारों बार मेरे अन्दर से कोई मुझसे कह चुका है, तुम्हारा अस्तित्व महज़ खाना, पीना, मौज करना नहीं है। सिर्फ़ इतना तो हरेक पशु भी करता है। तुम्हारा अस्तित्व है विकास--निरन्तर विकास! तुम्हें दया मिली है, तुम्हारे अन्दर श्रेष्ठ भावनाएँ हैं, तुम्हें सद् और असद् का विवेक मिला है--इनका उपयोग करना ही तुम्हारा धर्म है।

मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हममें से हरेक को इस सुविधा-धर्म पर सोचना पड़ेगा। हमारे सामने पुरानी सभ्यता के नष्ट-भ्रष्ट खँडहर पड़े हैं, धन के पिशाच ने सब कुछ नष्ट कर दिया

है । सारे समाज में भयानक अनैतिकता घुस आई है । नियम और कानून से यह अनैतिकता नहीं सम्हलती, दण्ड के भय से बननेवाली नैतिकता की नींव चिरस्थायी होती है, चाहे वह नरक का भय हो चाहे यह जेलख़ाने का भय हो । जहाँ नरक हैं वहाँ पापों को धोनेवाले गंगा-स्नान, पूजापाठ, दान इत्यादि अनेकों विधान भी हैं, जहाँ जेलखाने हैं, वहाँ जेलखाने से बचने के लिए झूठ, जालसाज़ी, रिश्वत आदि अनेक साधन भी हैं। मानवता के विकास के लिए आवश्यक है——मनुष्य का विकास !

दीवाली

(१)

पता नहीं किस मसखरे ने दीवाली के त्यौहार की कल्पना की थी, लेकिन हम इतना कह सकते हैं कि उसने हम हिन्दुओं के साथ एक अच्छा-खासा मज़ाक किया। खूब है यह दीवाली का त्यौहार, और हम जितना ही इस त्यौहार पर ग़ौर करते हैं उतना ही चक्कर में पड़ते जाते हैं। यह त्यौहार हिन्दुस्तान में बड़ी धूम-धाम के साथ मनाया जाता है, जश्न होते हैं, आतश-बाज़ियाँ छूटती हैं, दिये जलते हैं।

हमारे एक मित्र हैं, किसी क़दर आर्य-समाजी। एक दफ़े जो उनसे बातचीत हुई तो वे हम से बोले, "महाशयजी! आप जानते हैं कि दीवाली में जो रोशनी की जाती है वह क्यों?"

हम अपने उन मित्र के ज्ञान के क़ायल हैं। सोचा कि उनके ज्ञान के अमूल्य-भण्डार का एकाध रत्न हमें मिलनेवाला है और हमने तपाक के साथ कहा, "जी नहीं! हमने गोकि इस पर बहुत सोचा-विचारा, लेकिन हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके।"

मुँह बनाते हुए उन्होंने उत्तर दिया, "आप निर्णय पर पहुँचेंगे खाक! आप जानते हैं कि बरसात के बाद बहुत-से भुनगे, कीड़े-मकोड़े रात के समय उड़ा करते हैं रोशनी की

फ़िराक़ में और रोशनी के पास जाकर प्राण त्याग देते हैं ?"

हमने कहा, "जी हाँ ! और वाक़या यह है कि इन भुनगों और कीड़ों-मकोड़ों से जान मुसीबत में पड़ जाती है ! तो फिर ?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया, "तो दीवाली में जो इतने दीपक जलाए जाते हैं वह इसलिए कि तमाम भुनगे कीड़े-मकोड़े आदि-आदि एक साथ ही हरदम के लिए अपने प्राण त्याग दें। समझे आप ! दीवाली के वाद आप अगर ग़ौर करें तो आपको उन भुनगों, कीड़ों-मकोड़ों के दर्शन भी नहीं होते !"

अपने दोस्त की उस नई खोज पर हम दंग रह गए। कितनी पते की बात उन्होंने ढूँढ निकाली, कितना वैज्ञानिक कारण उन्होंने हमारे सामने पेश किया।

लेकिन हम हैं कि विज्ञान से कोसों दूर रहते हैं, उसे पास नहीं फटकने देते। तो उस वक्त तो हमने गला फाड़कर अपने मित्र की तारीफ़ कर दी, लेकिन सन्तोष हमें ज़रा भी नहीं हुआ।

तो कहना यह है कि हमने वहुत-बहुत पुरान पढ़े, शास्त्र पढ़े और हम इस नतीजे पर पहुँचे कि दीवाली के दिन जो यह अनगिनती दिये जलाए जाते हैं वह लक्ष्मी जी का स्वागत करने के लिए ?"

लक्ष्मीजी के आँखें हैं, यह हम जोर देकर कहते हैं; और इसका सबूत यह है कि अगर उनके आँखें न होतीं तो वे एक-से-एक खूसट खवीस और वदतमीज़ उल्लू को अपनी सवारी के लिए न चुनतीं। ऐसी हालत में जो अनगिनती दिये उनका स्वागत करने को जलाए जाते हैं—इसकी क्या ज़रूरत थी ? यह सवाल जरूर उठ पड़ता है। लेकिन हम हैं कि जब खोजबीन

पर जुट गए तब बिना तह तक पहुँचे हमारा खाना-पीना हराम ! तो अपने राम की समझ में यह आया कि इसमें दोष लक्ष्मीजी का नहीं है। बल्कि दिया जलानेवालों का है। लक्ष्मी जी उन पर सवारी गाँठें, सबों में इसकी अभिलाषा रहती है, और लक्ष्मी-वाहन बनने की योग्यता का लोग बड़ी खूबी के साथ प्रदर्शन करते हैं।

(२)

आमतौर से लोगों का ख्याल है कि दीवाली मुख्यत: बनियों का त्यौहार है। बरसात भर ये ग़रीब बनिये कीचड़-काँदों के कारण (बात उस समय की है जब न सीमेण्ट की पक्की सड़कें बनी थीं न नदियों पर लोहे के पुल बने थे) रास्ता ख़राब हो जाने से अपने-अपने घरों में किसानों की फ़सल पर अपनी नज़रें जमाए बैठे रहते थे। कर्ज़ के व्याज में किसानों की फ़सल का एक बड़ा हिस्सा हथिया कर घर में बीबी-बच्चों के साल-भर तक खाने-पीने का इन्तज़ाम करके वे यह त्यौहार मनाते थे और इसके बाद व्यौपार के लिए घर से निकल पड़ते थे।

इसलिए बनियों का नया वर्ष दीवाली से ही शुरू होता है। बहीखाते बदले जाते हैं, बनाए जाते हैं; और अगर ज़रूरत हुई तो जाल किया जाता है। लक्ष्मी जी की पूजा होती है कि वह उन पर कृपा करें। दीवाली के दिन रुपयों की अजीब धूम-धाम रहती है।

रुपयों की धूम-धाम का एक बहुत दिलचस्प रूप है। जुआ जो दीवाली में घर-घर में खेला जाता है। कहा यह जाता है

कि दीवाली की रात में किसी को सोना नहीं चाहिये, न जाने किस समय लक्ष्मी जी आपके घर में आवें और अगर आप उस समय सोते हुए मिलें तो आपको ठेंगा दिखाकर चलती बनें। लिहाज़ा इसलिए कि लक्ष्मी जी आप पर नाराज़ न हो जायँ, आपके लिए यह ज़रूरी है कि आप रातभर जागें। लेकिन जागें भी तो किस बहाने ? यानी आप जुआ खेलें।

इस जुआ के मसले पर भी हम ग़ौर करने से नहीं चूके। बहुत छानबीन करने के बाद हमें यह पता लगा कि बनिया लोग जुआ खेल कर यह देखा करते थे कि उनका साल कैसा बीतेगा। अगर जुआ में वह जीते तो समझिये कि सालभर उनकी चाँदी-ही-चाँदी ! यानी व्यौपार में उन्हें फ़ायदा होगा, वे मौज करेंगे। और अगर हारे तो सावधान हो गए कि जोखिम उठाना गलत होगा, व्यौपार में चोरी, उठाईगीरी और गिरह-कटी का सहारा लेना होगा। लिहाज़ा जीतनेवाले तो शेर की तरह छाती फुलाकर लक्ष्मीजी की जयजयकार मनाते हुए खरा माल लेकर व्यौपार के लिए निकल पड़ते थे और हारने वाले कैंची, चाकू, जाली बही-खाते तथा अन्य ऐसे सामान लेकर धोखा-धड़ी करने निकलते थे।

जुआ के मसले पर हमें एक बात और सूझी। हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ने पर हमें एक यह पता चला कि हमारे पूज्य पूर्वज अव्वल नम्बर के जुआरी होते थे, यानी इस क़दर जुआरी कि हम कलियुग वाले उनका मुकाबिला किसी तरह नहीं कर सके। दो महानुभावों के कारनामे तो हमारे सामने हैं ही, और ये दोनों महानुभाव एक तरह से आदर्श महाप्रभु रहे हैं। एक

तो धर्मराज तक कहलाने का दावा करते थे, यानी वे थे महाराज युधिष्ठिर ! तो ये युधिष्ठिर महोदय जुए में अपना राज-पाट क्या अपनी बीवी तक हार गए, और उस पर तुर्रा यह कि बीवी उनकी पूरी नहीं बल्कि शिरकत की थी, यानी उनके चार भाइयों का भी उस बीवी में हिस्सा था। लेकिन उस जमाने के भाई भी शायद बछिया के ताऊ हुआ करते थे। बड़े भाई ने उनकी बीवी को दाँव में लगा दिया और वह हैं कि बैठे हुए टुकर-टुकुर देख रहे हैं। एक-से-एक धनुर्धारी, गदाधारी थे वे भाई, लेकिन मजाल है कि चूँ तक कर जाते ! दूसरे सज्जन हैं राजा नल ! बड़े महात्मा, बड़े धर्मात्मा ! और एक दिन जो सूझी तो सारा राज-पाट हारकर वनवास के लिए रवाना हो गए।

तो अपने राम का ऐसा खयाल है कि हमारे बुजुर्ग पक्के जुआरी थे, और उन बुजुर्गों में शायद कुछ समझदार लोग भी रहे हों। इन समझदार लोगों ने जब देखा होगा कि सभ्य और नेक आदमी जुए में अपनी बीबियाँ हार जाते हैं, राजा अपना राज-पाट हार जाते हैं तब उन्हें चिन्ता पैदा हुई होगी। उन्होंने हमारे जुआरी बुजुर्गों को समझाया होगा कि मेरे भाई जुआ मत खेलो, बड़ी नाकिस आदत है, बड़ी हानिकारक है। लेकिन हमारे जुआरी बुजुर्ग—भला यह सलाह वे क्यों मानने लगे !

तो हमारा कुछ ऐसा खयाल है कि उन समझदार नेक क़िस्म के लोगों ने हमारे जुआरी बुजुर्गों के साथ सख्तियाँ की होंगी, उन्हें जेल भिजवाया होगा, उन पर जुर्माने किये होंगे।

और आखिर में हमारे बुजुर्गों ने कहा होगा, "क्या बताएँ, यह अपनी जुए की आदत तो छूटती नहीं चाहे तुम हमारी बोटी-बोटी काट डालो। तो अब कुछ ऐसा करो कि हमारा जुआ खेलना भी बन्द न हो और यह जुआ की आदत भी हमसे छूट जाय।" इस पर उन नेक व समझदार लोगों ने कहा होगा, "अच्छा! हम तुम्हें इजाज़त देते हैं कि साल में दो-चार दिन तुम खुले आम जी खोलकर जुआ खेल लो। यानी हम लक्ष्मी जी का त्यौहार तुम्हारे वास्ते तै किये देते हैं और तुम अपना सारा लक्ष्मी-वाहनपना इस त्यौहार में निकाल दो।

तो हम इस निर्णय पर पहुँचे कि कुछ इसी तरह जुआ इस दीवाली के त्यौहार में शामिल हुआ होगा।

(३)

जुए की बात उठी है तो रुकने की तबीयत नहीं होती क्योंकि विषय मजेदार है।

हाँ, तो 'जुआरी' शब्द से हमारी कल्पना एक ऐसे आदमी की होती है जो शक्ल से निहायत शरीफ दिखे लेकिन हो पूरा निकम्मा, आलसी, अहदी और आवारा—यानी जो यह समझे कि ज़िन्दगी की सार्थकता दूसरों की मेहनत पर ज़िन्दा रहने में है और जो इस बात पर अमल भी करे।

अक्सर हमने यह भी सुना है कि जुआरी आदमी बड़ा ईमानदार होता है गोकि इसका तजुर्बा हमें अभी तक नहीं हुआ है। हमारे कुछ निजी अनुभव तो ठीक इसके विपरीत रहे हैं। एक साहब हमारे नौकर थे। उनको कुछ सामान लाने के लिए दो रुपए दिये गए। बड़ी मुस्तैदी के साथ वे सामान

लाने के लिए घर से निकल पड़े। अब देखिये कि हम अपने नौकर साहब का इंतजार कर रहे हैं लेकिन वह नदारद। करीब तीन घण्टे बाद मुँह लटकाए, मरीज़ की-सी सूरत बनाए वापस लौटे—खाली हाथ! बोले, "बाबूजी! रुपए तो कहीं रास्ते में गिर पड़े!"

हमने समझ लिया कि कुछ दाल में काला है। हमने उनसे जिरह करनी शुरू कर दी, बड़ा दम-दिलासा दिया, बड़ा मारा-धमकाया तब जाकर कहीं उन्होंने कबूल किया कि रास्ते में जुएँ का पाड़ जमा था। उन्होंने सोचा कि दो रुपए के चार रुपए बना लें। दाँव पर दोनों रुपए रख दिये—और उसके बाद वे दोनों रुपए भी ग़ायब हो गए।

दूसरा क़िस्सा दीवाली के दिन का है। लड़कपन की बात है, हम उन दिनों कानपुर में रहते थे। प्रथा के अनुसार हम भी जुआ खेलते थे। तो जनाब एक जगह हमारे सामने सैकड़ों का दाँव लगा था, और हम इस हार-जीत की तैयारी में थे कि बत्ती गुल हो गई। अब जब बत्ती जली तो हमने देखा कि फड़ का करीब पाँच सौ रुपया गायब था। तो उस दिन यह कबाहत कि 'चिराग गुल, पगड़ी ग़ायब!' हमारी समझ में आ गई।

तो हमारा कहना है कि जुआरी आदमी ईमानदार होता है, यह बात हमारे जमाने में तो कम-से-कम नहीं लागू होती, सतजुग में भले ही लागू होती रही हो। गोकि उस ज़माने में भी बेईमानी से पासे फेंके जाते थे और धोखा देकर लोगों का राज-पाट व उनकी बीबियाँ हजम कर ली जाती थीं।

खैर, छोड़िये यह बात ! हम कर रहे थे जुआ की मीमांसा तो पहले ज़माने में कामकाजी आदमी ज़रूर जुआ खेलते रहे होंगे क्योंकि उस जमाने में जुआ आमतौर से दिल-बहलाव समझा जाता था। लेकिन आज की दुनियाँ में तो जुआ लोगों का पेशा बन गया है। अगर आप कभी सट्टा-बाज़ार या शेयर बाज़ार जायँ तो एक अजीब नज़ारा आपको दिखेगा।

बड़े-बड़े पगड़ी-धारी, तिलक-धारी, तोंद-धारी महानुभाव आपको वहाँ दिखेंगे। ये सब-के-सब अपने को इज्जतदार आदमी समझते हैं—यही नहीं, बहुत से दूसरे बेवकूफ़ भी इन्हें इज्जतदार श्रीमान मानते हैं। ये लोग जुआ खेलते हैं और मौज के साथ ज़िन्दगी बिताते हैं।

हमारे उन बेवकूफ़ पूर्वजों में और आज के समझदार सेठों में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ हमारे पूर्वज बुद्धू की तरह अपनी बीबी व अपना राजपाट हारकर दूसरों के हवाले कर देते थे, वहाँ यह समझदार सेठ बीबी-बच्चों के नाम लाखों रुपया जमा करके चुपचाप बड़े इतमीनान के साथ दीवाला निकाल देते हैं।

(४)

अपने राम का ख़याल है कि हम जुए पर कुछ ज़रूरत से ज्यादा लिख गए और दीवाली के त्यौहार को हम भूल ही गए। तो दीवाली के सिलसिले में हमें एक और पर्व की याद आ गई, जिसे हमें दीवाली का पुछल्ला तो नहीं, बल्कि अगल्ला कहना पड़ेगा, क्योंकि यह पर्व दीवाली के ठीक एक दिन पहले पड़ता है और इस पर्व का नाम है 'नरक चौदस।'

हम वहुत सोचते रहे कि आख़िर इस पर्व का नाम नरक-चौदस क्यों पड़ा। एकाएक हमें उस मसखरे की याद आ गई जिसने दीवाली के क़िस्म के त्यौहार की कल्पना की—और वैसे ही हमारी समझ में पूरा रहस्य आ गया। यह नरक-चौदस इसलिए वनाया गया है कि वे सव-के-सव लक्ष्मी के पुजारी जो आज-कल नरक आवाद कर रहे हैं, एक दिन पहले लक्ष्मी का पूजन करें क्योंकि दीवाली तो ज़िन्दा आदमियों के लक्ष्मी-पूजन के लिए वनी है।

अव एक हम हैं, देख रहे हैं कि लक्ष्मी से पुजारियों को नरक मिलता है, स्वर्ग नहीं; क्योंकि अगर स्वर्ग मिलता होता तो स्वर्ग-परीक्षा नाम का कोई पर्व ज़रूर मनाया जाता, और इतना देखते हुए भी हम लक्ष्मी की पूजा किये ही जाते हैं।

खैर साहेव, स्वर्ग-नरक की वातों से दुनियावालों को कोई सरोकार नहीं; हम दुनियावाले तो इस दुनिया को जानते हैं और इस दुनिया में ताक़त है 'पैसा'! तो हम कह सकते हैं कि दीवाली पैसेवालों का त्यौहार है। और इसलिए हमारी आप सव लक्ष्मी के उपासकों के प्रति शुभ कामना है कि आप पर लक्ष्मीजी सवारी गाँठें, और लक्ष्मी-वाहन वनकर आप फलें-फूलें।

चरखा

हमारे एक दोस्त हैं—महात्मा गाँधी के परम भक्त ! आँख बन्द कर के गाँधीजी की आज्ञा का पालन करते हैं ; और यही नहीं—दूसरों से भी उस आज्ञा को पालन करवाने का प्रयत्न करते हैं । यह तै बात है कि अपनी दूसरी कोशिश में उन्हें कभी-कभी दूसरों से लड़ जाना भी पड़ता है ।

एक दिन अलस्सुवह वे मेरे यहाँ तशरीफ़ लाए । एक अजीब हुलिया वनाए थे । उनके दोनों हाथों में एक-एक बक्स था, कन्धे पर एक खादी का झोला लटका था जिसमें ठसाठस सामान भरा था, और उनके खादी के कुरते की चारों जेबें—दो बगल की और दो ऊपर की क्योंकि कुरतों में अधिक-से-अधिक जेबे रखवाने में वे विश्वास करते हैं—कागज़ों से बुरी तरह लदी थीं । उनके मत्थे पर पसीना था, वे हाँफ रहे थे । आते ही उन्होंने मुझसे कहा, "वन्दे मातरम्!"

मैंने अपना सर उठाया, उनकी हुलिया देखी, अपनी हँसी दबाई और वड़ी गंभीरतापूर्वक कहा, "अहा ! नमस्कार ! बैठिये, अच्छी तरह तो हैं ?"

बैठकर उन्होंने मुझसे कहा, "क्या अच्छी तरह हूँ ? दिन भर दौड़ता रहता हूँ, दम मारने की फुरसत नहीं है ।"

"खैरियत तो है !" मैंने पूछा, "यह दौड़-धूप कैसी हो रही है ?"

"अरे भाई क्या बतलाऊँ। महात्मा गाँधी ने आदेश दिया है कि सत्याग्रही होने के लिए नियमित रूप से सूत कातना आवश्यक है, और इसलिए मुझे एक चरखा-आश्रम खोल देना पड़ा। वहाँ आकर लोग नियमित रूप से सूत कातते हैं। और..." अपनी एक जेब से कागजों का एक पुलिन्दा निकालते हुए उन्होंने कहा, "आपको भी नियमित रूप से सूत कातना चाहिए। लिहाज़ा आप यह सदस्यता का फ़ार्म भर दें।" और यह कह कर उन्होंने दूसरी जेब से एक रसीद-बुक निकाली, "चन्दा आठ आना साल है, सिर्फ नाममात्र वह चाहे आप अभी दें या फिर कभी दे दें!" इसके बाद उन्होंने पहला बक्स खोला, "यह है यरवदा-चक्र, हिन्दुस्तान का सर्वश्रेष्ठ चरखा" और फिर उन्होंने दूसरा बक्स खोला, "यह हैं वर्धा तकलियाँ।" इसके बाद उन्होंने झोले को कंधे से उतारा, "यह हैं रुई की पोनियाँ, अच्छी-से-अच्छी रुई! तीस नम्बर का सूत तो नौसिखया तक आसानी से कात लेगा।"

उस वक्त तक, उनकी बातें सुनते-सुनते, मुझे भी कुछ मज़ा आने लगा था। मैंने मुसकराते हुए कहा, "कहा है—'चले राँड़ का चरखा, चले बुरे का पेट!' सो देखो बाबा, दूसरा दरवाजा देखो!"

मेरा इतना कहना था कि मेरे दोस्त एकाएक भड़क उठे, "तुम कायर हो, तुम देश-द्रोही हो, तुम्हारा मुँह देखना पाप है।"

मुझे उनसे पूछना पड़ा, "अच्छा, चरखा चलाने से हमें क्या फ़ायदा होगा? किस तरह हम स्वतन्त्रता पाने में सफल होंगे? क्या आप बतला सकते हैं?"

मेरे दोस्त बग़ल झाँकने लगे, "मैं यह सब नहीं जानता, जानना भी नहीं चाहता! महात्मा गाँधी कहते हैं इसलिए ठीक है। देश के बड़े-बड़े नेता सब-के-सब चरखा चलाते हैं, वे बेवकूफ़ थोड़े ही हैं!"

मेरे उन दोस्त की तरह नित्य चरखा कातनेवाले ऐसे लाखों आदमी हैं जिन्होंने इस बात पर सोचने की कभी कोशिश ही नहीं की, कि चरखे को महात्मा गाँधी द्वारा इतना महत्व क्यों दिया जाता है। आज की दुनिया में जब मशीनों द्वारा कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक सूत काता जा सकता है, तब चरखे की क्या उपयोगिता हो सक़ती है, इस पर हमें सोचना पड़ेगा। क्या महात्मा गाँधी का यह कहना कि चरखा आज की बुराइयों की एकमात्र औषधि है, ठीक है?

इसके पहले कि हम चरखे के ऊपरी पहलू पर ध्यान दें, हमें चरखे के आध्यात्मिक पहलू पर ग़ौर कर लेना चाहिए। आज का युग मशीन का युग है, और मशीनों द्वारा दुनिया में बेकारी बढ़ रही है। यह पूँजीवाद जो दुनिया को इस बुरी तरह पीस रहा है मशीन की उपज है और आज की उलझन पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न हुई है।

आज की उलझनों को दूर करने के लिए पूँजीवाद के वर्तमान रूप को मिटाना अथवा बदलना आवश्यक है। पूँजीवाद को दो तरीकों से मिटाया जा सकता है, एक तो पूँजीवादियों को मिटाकर, दूसरे पूँजी को मिटाकर। अधिकांश लोगों के मन में पूँजी को मिटाना असम्भव है क्योंकि आज की दुनिया की सारी संस्कृति ही पूँजी पर विकसित हुई है। पाश्चात्य देशों का सारा विकास

और सारी उन्नति ही पूँजी द्वारा हुई है और इसलिए पाश्चात्य देशों में किसी ने कभी पूँजी को मिटाने की कल्पना ही नहीं की। वहाँ के विचारकों ने पूँजीवादियों को मिटाकर ही आज की समस्या का हल पाने का प्रयत्न किया है। पूँजीवाद से उत्पन्न समस्याओं की औषधि जहाँ भी निकाली गई है वहाँ पूँजीवादियों को मिटाकर ही निकाली गई है, पूँजी को मिटाकर नहीं। और इसका परिणाम यह हुआ कि आज व्यक्ति पूँजीवादी न रहकर राष्ट्र और सरकारें पूँजीवादी हो गई हैं।

लेकिन पूँजी द्वारा उत्पन्न उलझनों को पँजी को ही मिटाकर दूर किया जा सकता है, पूँजीवाद को मिटाकर नहीं। पूँजी का स्वाभाविक गुण है उत्पीड़न, और जब तक पूँजी कायम रहेगी उत्पीड़न भी कायम रहेगा। व्यक्ति से हटकर राष्ट्र में उस पूँजी के केन्द्रित हो जाने से समस्याएँ और भी भयानक रूप धारण कर लेंगी—जैसा आज दुनिया में हो रहा है। पहले एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों का शोषण करता था, अब एक राष्ट्र अनेक राष्ट्रों का शोषण करेगा।

महात्मा गाँधी का विश्वास है कि पूँजी द्वारा उत्पन्न उलझनों को दूर करने के लिए पूँजी को ही दूर करना पड़ेगा। और पूँजी को जन्म देती है मशीन। आज यदि अपने हाथ से काम किया जाय तो हरेक आदमी के वास्ते दुनिया में काम मौजूद है, और बेकारी दूर हो जाने से हरेक आदमी को खाना-कपड़ा मिल सकता है।

मशीन का पहला रूप कपड़े की मिलों में दिखलाई देता है। जीवन में अन्न के बाद वस्त्र ही आता है। अन्न उत्पन्न करने के

लिए अभी मशीन का इतना अधिक प्रयोग नहीं होता——कम-से-कम हिन्दुस्तान में नहीं——पर वस्त्र वनाने के लिए हज़ारों मिलें खुली हैं।

चरखा एक रूपक है, पूँजी को नष्ट करने के विश्वास का। चरखे को उसी रूपक की तरह हमें समझना पड़ेगा। आज जब आदर्शों का संघर्ष हो रहा है, हमें रूपकों की बहुत वड़ी आवश्यकता है। अगर महात्मा गाँधी चरखे पर जोर देते हैं तो बेजा नहीं, महात्मा गाँधी आदर्शों के युद्ध में संलग्न हैं। सैनिकों के पास आदर्शों को प्रदर्शित करने वाला कोई चिह्न तो होना चाहिए।

और एकाएक मुझे इस स्थान पर वह पुरानी कहावत आ जाती है "चले राँड़ का चरखा।" यह कहावत हँसी में कही जाती है, पर इस कहावत में एक बहुत बड़ा सत्य है। अनादिकाल से चरखा बेकारों और अनाथों का आश्रयदाता समझा गया है। चरखा स्वावलम्ब की निशानी समझी गई है। विधवा, जिसका अवलम्ब छिन गया है, जिसके सामने भूख और बेकारी है——उसे चरखा अवलम्ब दे सकता है। वह मेहनत करके, बिना दूसरे पर आश्रित रहकर अपना पेट पाल सकती है।

हम हिन्दुस्तानी असहाय हैं, हमारी अवस्था राँड़ की अवस्था से भी गई-बीती है। चरखा हमारे लिए——यानी हम पढ़े-लिखे राजनीतिक कार्य-कर्ताओं के लिए——एक रूपक भले ही हो, पर वह सारे देश की बेकारी की एक बहुत वड़ी औषधि भी है। एक वक़्त भी भरपेट भोजन न पानेवालों को काम चाहिए। पाश्चात्य देशों की बेकारी की अपेक्षा——हिन्दुस्तान की बेकारी वहुत अधिक दयनीय है। और इसलिए चरखे का प्रचार अपनी

वर्तमान उलझनों को दूर करने के लिए निहायत ज़रूरी है। हमें चाहिए कि प्रत्येक गाँव में, प्रत्येक घर में चरखे का प्रचार हो।

और अच्छा होता कि हमारे कार्य-कर्ता असलियत को समझकर काम करते। ज्ञान द्वारा जनित विश्वास में और अंध-विश्वास में बहुत बड़ा अन्तर है। चरखे के आन्दोलन की सफलता तभी सम्भव है जब कार्यकर्ता चरखे के महत्व को जानने लगें, नहीं तो उनका सारा कोश इसी प्रकार हास्यास्पद होगा जैसा हमारे उन दोस्त का था जो निहायत नेक और ईमानदार होते हुए भी अपने अज्ञान के कारण चरखे का एक हास्यास्पद रूप दुनिया के सामने पेश कर रहे थे।

एक आक्षेप

मेरे एक मित्र हैं। उनका नाम बतलाने की ज़रूरत नहीं, इतना कह देना काफ़ी है कि वे मेरे घनिष्ट मित्र हैं। और यह भी कहा जा सकता है कि वे शिक्षित हैं, प्रतिभावान् हैं। वे नौजवान हैं——उम्र में मुझसे काफ़ी छोटे, लेकिन आदमी शायर हैं— मनचले, स्वच्छन्द प्रकृति के और मज़ाक-पसन्द। एक दिन वे तशरीफ़ लाये, किसी क़दर उजलत में। उस समय मैं चा पी रहा था, मैंने ताड़ लिया कि हज़रत आज कुछ बिगड़े हुए हैं।

काफ़ी गरम चा का एक प्याला वे एक घूँट में पी गए, आँखें चमकने लगीं, चेहरे पर सुर्खी आ गई। छूटते ही उन्होंने मुझसे कहा, "मैं यह कहने आया हूँ कि वे लोग जो 'अहिंसा-अहिंसा' अलापा करते हैं, खद्दर पहना करते हैं, गाँधी-टोपी लगाते हैं—— वे सबसे अधिक बदमाश होते हैं।"

मैं चौंक-सा उठा। खद्दर मैं पहिनता हूँ, 'अहिंसा-अहिंसा' भी मैं रटा करता हूँ और गाँधी टोपी भी लगाता हूँ। मैंने जरा गला साफ़ करते हुए पूछा, "तो आपका मतलब है कि मैं ... यानी मैं बदमाश हूँ।"

उन्होंने उसी गम्भीरता के साथ कहा, यह तो मैं अभी ठीक-तौर से नहीं कह सकता क्योंकि आपकी बाबत अभी तक कोई सबूत नहीं मिला, शक कभी-कभी भले ही हुआ हो, लेकिन अगर

आप भी वदमाश निकलें तो मुझे कोई ताज्जुव नहीं होगा।

मैंने उठकर उनके सरपर हाथ फेरते हुए नौकर से एक गिलास पानी मँगवाया फिर मैंने उनसे कहा, "क्यों भाई, क्या मतलव है ? किसी कांग्रेसमैन से झगड़ा तो नहीं हो गया ? और अगर झगड़ा भी हुआ है तो उसने कहीं तुम्हें पीटा तो नहीं ? और अगर उसने तुम्हें पीटा है तो मैं यह ऐलान कर सकता हूँ कि वह कांग्रेसमैन नहीं है—कम-से-कम अहिंसावादी तो वह हो ही नहीं सकता !"

नौकर उस समय तक एक गिलास ठंढा पानी ले आया था। मैंने उनको सलाह दी कि वे अपना सर धो लें। लेकिन उस समय वे भरे हुए थे। अपने सर पर पानी डलवाने से उन्होंने साफ़ इनकार कर दिया। उन्होंने कहा, "नहीं जी वात यह है कि कल एक सज्जन मेरे पास आए, अच्छे खासे महाशयजी बने हुए। खादी का कुरता पहने हुए, खादी की धोती बाँधे हुए, खादी की टोपी लगाए हुए। जी हाँ, और हाथ में एक खादी का झोला भी था जिस पर एक तरफ़ तो तिरंगा झंडा छपा था और दूसरी तरफ़ महात्मा गाँधी की तसवीर छपी थी। बोले कि छपरा के रहनेवाले हैं, कलकत्ता आए तो जेब कट गई। पास में एक पैसा नहीं, घर वापस जाना है। दस रुपया उधार चाहिए। घर जाते ही वापस कर देंगे। और उन्हें शरीफ़ आदमी समझ कर मैंने दस रुपए दे दिये।"

मैंने कहा, "लेकिन आज तो वह घर भी नहीं पहुँचे होंगे, तुमने उन्हें वदमाश कैसे कह दिया ?"

उन्होंने झुँझलाकर कहा, "पहले पूरी वात सुन लीजिये,

बात क्यों काट रहे हैं। कल शाम को मैं ज़रा......होटल चला गया। और वहाँ देखा कि वे सज्जन एक रेशमी सूट डाटे हुए मौज से पी रहे हैं और एक बाज़ारू लड़की उनकी बगल में थी। मुझे देखकर ऐसे मुँह फेरा मानो वह मुझे पहचानता ही नहीं।"

"लेकिन तुम यह क्यों चाहते थे कि वह तुम्हें पहचान ही ले?" मैंने पूछा।

मेरे मित्र उबल पड़े, "आप भी कैसी बातें कर रहे हैं? उसे शर्म आनी चाहिये थी, लेकिन वह आदमी लगातार हँस रहा था।"

अब मेरी बारी थी। मैंने कहा, "वह हँसता इसलिए था कि उसने तुम्हें बेवकूफ़ बनाया, तुम्हें—जो तुम बहिर रूप से ही मनुष्य को परखते हो, तुम्हें—जो तुम यह सब समझने की परवाह तक नहीं करते। खैर जाने दो इस बात को! लेकिन इतना तो तुम मान ही गए होगे कि इस पोशाक में कोई ऐसी बात है कि ठग तक दूसरों को ठगने के लिए इस पोशाक का प्रयोग करते हैं। अब सवाल यह है कि तुमने सब खद्दर पहननेवालों को बदमाश क्यों समझ लिया?"

उन्होंने कहा, "मैंने सब खद्दर-पोशों को बदमाश ही पाया, और साथ-साथ ढोंगी भी।" यह कहकर उन्होंने खद्दर पहननेवालों की बदमाशी के क़िस्से सुनाने शुरू किये।

सुनते-सुनते जब मैं ऊब गया तब मुझे कहना पड़ा, "सुनो भाई, अगर मैं गैर-खादी पहननेवालों के क़िस्से सुनाना शुरू करूँ तो दो चार-सौ किताबें लिख डालूँ। मैं यह माने लेता हूँ कि खादी पहननेवाले भी मनुष्य हैं, उनमें भी कमज़ोरियाँ हैं।"

"लेकिन ज़रा आप यह तो देखें !" उन्होंने कहा, "ये खादी वाले जो अहिंसा पर विश्वास नहीं करते, नैतिकता पर विश्वास नहीं करते——ये खादी पहन कर दूसरों को धोखा देते हैं कि नहीं ?"

आज मैं सोच रहा हूँ कि उनकी बात कितनी ठीक थी। वास्तव में वे लोग बड़े भयानक हैं जो अपना स्वार्थ-साधन करने के लिए खादी पहनते हैं, कांग्रेसमैन बनते हैं, अहिंसा की दुहाई देते हैं।

मुझे याद है ट्रेन का वह दृश्य, जब एक खादी पहने हुए सज्जन ने मुगलसराय स्टेशन पर गाड़ी-सफ़र करनेवाले लोगों से किसी अनाथाश्रम के नाम पर पैसे वसूल किये थे। उस अनाथाश्रम का नाम व पता मैंने नोट कर लिया था, लेकिन मुझे आज तक उस अनाथाश्रम का पता नहीं लग सका।

खादी एक राजनीतिक वर्दी है, मैं यह माने लेता हूँ, लेकिन खादी को नैतिकता की वर्दी क्यों माना जाय ? यह प्रश्न मेरे सामने है। आज हिन्दुस्तान की कांग्रेसवाली राजनीति में महात्मा गाँधी के कारण नैतिकता का बहुत कुछ हाथ है, लेकिन इसके ये अर्थ नहीं होते कि प्रत्येक खादी पहननेवाला मनुष्य सच्चरित्र हो, ईमानदार हो।

मेरे वे मित्र इसी बात पर नाराज़ हैं कि खादी पहननेवाला हरेक व्यक्ति सच्चरित्र क्यों नहीं होता। कुछ आदमी जो खादी पहनकर दुनिया को धोखा दे रहे हैं, मेरे उन मित्र ने प्रत्येक कांग्रेसमैन को उन्हीं की कोटि का समझ रक्खा है। और मैं यह कह सकता हूँ कि यह गलती करने में मेरे दोस्त अकेले नहीं हैं।

कई साल पहले की बात है, अजंता की गुफ़ाएँ देखने के लिए मैं जलगाँव से जा रहा था। हम कई आदमी थे, और साथ में वह सज्जन भी थे जिन की मोटर पर हम सफ़र कर रहे थे। जिनकी मोटर थी वे एक सम्पन्न आदमी थे, उन्होंने वात-वात में कहा, "अजी कांग्रेस में ९९ फ़ीसदी आदमी बदमाश हैं।"

उस समय मुझसे न रहा गया था, मैंने वैसे ही उत्तर दिया था, "और कांग्रेस के वाहर सौ फ़ीसदी आदमी वदमाश हैं। खैरियत है कि कांग्रेस में आने के कारण एक फ़ीसदी आदमी तो नेक बन गए।"

मेरे इस उत्तर से वह आदमी घबरा गया था। वाद में मुझे मालूम हुआ कि उस आदमी के पास शराव के चार ठीके थे, लेकिन कांग्रेस गवर्नमेण्ट ने नशावन्दी का कानून पास करके उसके व्योपार को गहरी क्षति पहुँचाई थी।

उस समय तो वह बात मैंने आवेश में कह डाली थी, लेकिन आज जब अपने चारों ओर देखता हूँ तो ऐसा लगता है कि मैंने कुछ ऐसा गलत भी नहीं कहा था। ये बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ-महाजन जो कांग्रेस का विरोध करते हैं, मैं जानता हूँ कि ये लोग क्या हैं, मैंने इनकी ज़िन्दगी देखी है।

लेकिन फिर भी मैं यह मानता हूँ कि खादी पहनकर कुछ लोग दूसरों को धोखा देते हैं, या दूसरों को धोखा देने के लिए कुछ लोगों को खादी पहननी पड़ती है। मेरे वे मित्र जो उस दिन इतना उबल पड़े थे, खादी पहना करते हैं—मुझे इस बात का शक है कि वह असली खादी है भी या नहीं। मैं जानता हूँ, और मेरे दोस्त भी ईमानदारी के साथ स्वीकार करते हैं कि उन्हें खादी

पर रत्ती भर विश्वास नहीं, लेकिन क्या करें, वे खादी पहनने को मजबूर हैं।

कुछ साल पहले की बात है——उन दिनों मुझे स्वयं खादी पर विश्वास न था। लेकिन खादी के दो कुर्ते और दो धोतियाँ मैं बराबर रखता था। किसी सभा-सोसाइटी में जाना हुआ तो खादी के कपड़े निकल आए, किसी समर्थ कांग्रेसमैन से मिलना हुआ तो उस दिन सूट की जगह खादी पहनी गई। मुझे याद है कि जब सूबों में कांग्रेस-सरकार आई तब उन लोगों ने भी जो दो दिन पहले तक कांग्रेसमैनों को भद्दी-से-भद्दी गालियाँ दिया करते थे और जिनके खान्दान से हर साल दो-चार हज़ार रुपया विलायतों को, विलायती चीज़ों के मूल्य-रूप में जाया करता था, खादी के कपड़े बनवा डाले। आज भी मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो खादी पहनते हैं लेकिन जिनकी कपड़ों की मिलें चल रही हैं, जो विलायती चीज़ों का व्यौपार करते हैं।

और इतना सब लिख जाने के बाद अब सवाल मेरे सामने यह है कि मैंने यह सब क्यों लिखा। मैं अपने से ही पूछ रहा हूँ कि आखिर मैं चाहता क्या हूँ और सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि मैं भले ही बहुत कुछ चाहूँ, यह बहुत कुछ हो कहाँ सकता है?

नहीं, मनुष्य की य कमजोरियाँ एक दिन में दूर नहीं हो सकतीं। इनके दूर होने में समय लगेगा। और इस बीच में हमारा कर्तव्य यह है कि हम चीजों को देखें, उनकी वास्तविकता को समझें। सहानुभूति के दृष्टिकोण के साथ चीज़ों को स्वीकार करें, और बिना दूसरों की कमजोरियों पर ध्यान दिये, अपने अन्दर-वाली कमजोरियों को दूर करें।

धोखा-धड़ी

कल एक दोस्त से बात हो रही थी और वे दोस्त सम्पादक हैं! उन्होंने बात-बात में मुझसे कहा, "हिन्दुस्तान के आधे आदमी नपुंसक हैं और आधे आदमी अभागे हैं।"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ, आप ठीक कहते हैं। लेकिन आधे क्यों—मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि हिन्दुस्तान के सभी आदमी नपुंसक हैं और सभी अभागे हैं। हम नपुंसक हैं इसीलिए ग़ुलाम हैं, और ग़ुलाम हैं इसीलिए अभागे हैं।"

मेरे मित्र एकाएक चौंक उठे, "भाई जिस समय मैंने यह बात कही थी उस समय यह पहलू मेरी नज़र में नहीं था, मैंने तो दूसरी बिना पर यह बात कही थी!"

इस बार मेरे चौंकने की बारी थी, "वह दूसरी बिना क्या है?"

वे बोले, "बात यह है कि आप हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ जाइये, और उन सबों में आपको दो क़िस्म के विज्ञापन ही अधिकतर मिलेंगे। एक होगा नपुंसकता की राम-बाण दवा का, दूसरा होगा सिद्धिदाता कवच का। इससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुस्तान में इन दो चीज़ों की माँग सबसे अधिक है।"

बात उनकी ग़लत नहीं थी—यह मुझे स्वीकार करना पड़ा।

अकसर कई पत्रों में मुझे एक विज्ञापन देखने को मिल जाया

करता है, उसका शीर्षक रहता है, "मालवीय जी का कायाकल्प तथा महात्मा जी का चमत्कार !"

एक दिन उस विज्ञापन को पढ़ गया—मालूम हुआ वह नपुंसकता-निवारण का विज्ञापन है।

उस नपुंसकता की दवा के विज्ञापन से मालवीय जी का केवल इतना सम्बन्ध मालूम पड़ा कि मालवीय जी ने (स्वर्गीय पण्डित मदन मोहन मालवीय) देशी औषधियों से कायाकल्प किया था। पता नहीं कायाकल्प से मालवीय जी को कितना फ़ायदा हुआ। लेकिन इस विज्ञापन के साथ अपने एक पूज्य नेता का नाम देखकर कुछ अजीब-सा ज़रूर लगा।

और 'महात्मा जी' महात्मा गाँधी नहीं निकले, बल्कि दवा बाँटते हुए, ज़मीन के अन्दर गड़े हुए खज़ाने खोलते हुए, चरस का दम लगाते हुए, मुक्ति दिलाते हुए, पहाड़ों पर अपनी ऐयारी के करतब दिखलाते हुए एक महात्मा जी हैं।

होता अकसर यह है कि हमारे वैद्य जी परोपकार के परम अवतार होते हैं। उन्होंने किसी महात्मा जी से, या फिर चरक महोदय से ही कोई खास नुस्खा उड़ा दिया और वह नुस्खा जन-साधारण के सामने पेश कर दिया, यह बतलाते हुए कि हज़रत अगर आप अपना उद्धार करना चाहते हैं तो इस नुस्खे का सेवन कीजिये। और हमारे ये वैद्यजी ईमानदार तथा परमार्थी इतने हैं कि घर से हज़ारों रुपए विज्ञापनों पर खर्च करके उस नुस्खे का प्रचार करते हैं और गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते हैं, "लूटो भाई, लुटा दिया—बिल्कुल मुफ्त !"

जी हाँ, और आप वह नुस्खा तैयार करके भीमसेन बनिये,

रुस्तम वनिये, गामा वनिये ! लेकिन आप वह नुस्खा तैयार तो कीजिए। और हम कहते हैं कि अगर आप उस नुस्खे को वाकई तैयार करने लगें तो हमारी राय में आपकी वरावरी का मूर्ख इस दुनिया में न मिलेगा।

पहले तो आप बीस तोला शुद्ध बुरादा फ़ौलाद उसे एक तोला शुद्ध श्वेतमल्ल और डेढ़ माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर के साथ शुद्ध घृतकुमारी रस में घोट कर पाँच सेर शुद्ध कण्डे की आँच में फूंकिये। अव आपने रो-झींक कर यह काम खत्म किया तब आप उसे दुवारा एक तोला शुद्ध हरताल बर्फ़ी डेढ़ माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर के साथ शुद्ध घृतकुमारी रस में घोटिये। फिर तीसरी बार एक तोला शुद्ध आमलासार गंधक और डेढ़माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर में घोटिये और चौथी बार एक तोला शुद्ध संस्वारित पारद और डेढ़ माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर में फूंकिये। और जनाब एक-दो नहीं, वल्कि इस दवा को सोलह आँचें दीजिये और इतना करने के बाद दवा ज़मीन में गाड़ दीजिये। (कैसी ज़मीन में दवा गाड़ी जाय—यह नहीं वतलाया गया है) चार महीने बाद उस दवा को ज़मीन के वाहर निकालिये और फिर उसका सेवन कीजिए।

यह तय है कि आप क्या आपके छै पुश्त तक इस दवा को न वना सकेंगे। लिहाज़ा वैद्य जी के यहाँ से आप यह दवा पौने छै रुपए में मँगा लीजिए।

एक-आध रईस और एक-आध रिटायर्ड डिपटी कलक्टर भी इसी तरह के नुस्खे लेकर निकल पड़े हैं। वह बेचारे भी किसी-किसी महात्मा के चक्कर में पड़ गए और उनसे ज़बान हार चुके,

लिहाज़ा अपनी जनम भर की कमाई परोपकार में लगा रहे हैं। कुछ देवियाँ भी जिनके पति कभी नपुंसक रहे हैं और किसी महात्मा जी की कृपा से अच्छे हो गए, अपनी वहनों के नपुंसक पतियों का इलाज करने निकल पडी हैं। यानी हमारा कहना यह है कि हिन्दुस्तान के वहुत काफ़ी लोग लठ लेकर नपुंसकता के पीछे पड़ गए हैं।

इधर तो यह, और उधर कुछ ऐसे परोपकारी जीव भी आ गए हैं जो आपको करोड़ों रुपयों का फ़ायदा करवा सकते हैं। लाटरी वह आपके नाम निकलवा दें, रेस वह आपको जितवा दें, मुक़दमे में सफलता वह आपको दिलवा दें—यही नहीं, पड़ोस की वहू-वेटियों को भी आप इन महोदयों की कृपा से उड़ा सकते हैं। और इस सवके वदले आपको देना पड़ेगा दो-चार रुपया, लेकिन पेशगी।

कोई साहेव नवग्रह-यन्त्र वनाए घूमते हैं, कोई सिद्धिकवच यन्त्र लेकर आपकी सेवा में हाज़िर हैं। अगर आप इनसे फ़ायदा नहीं उठाते तो आपका-सा अभागा दुनिया में न मिलेगा।

और हिन्दुस्तान में ये सैकड़ों खदार-खिदमतगार लोगों को लूट रहे हैं, लोगों की अशिक्षा, अज्ञान और दुर्भाग्य का फ़ायदा उठा रहे हैं, झूठ, फरेव और मक्कारी से सारे वातावरण को गन्दा कर रहे हैं। इनकी ओर कोई उँगली तक नहीं उठाता, इनके कुकर्मों पर कोई कारवाई नहीं होती। ये जो पीड़ितों को धोखा देते हैं, ग़रीवों को ठगते हैं और खुद मौज करते हैं—इनके विरुद्ध जनता को कोई आगाह भी तो नहीं करता।

बेकारों और भूखों मरनेवालों की संख्या काफी है। वे इन ज्योतषियों के विज्ञापनों से प्रभावित होकर किसी तरह कहीं से दो-एक रुपया लाकर इस छल-प्रपंच के महायज्ञ में फूँक दिया करते हैं। इसको रोका जाना चाहिए।

इन लोगों के पास एक-से-एक बढ़कर प्रशंसा-पत्र मौजूद हैं, और प्रशंसा-पत्र देखकर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि नैतिकता की, ईमानदारी की हमारे देश में, हमारे समाज में कोई कीमत ही नहीं। मुरव्वत से, पैसा देकर, खुशामद करके या मूर्ख बना कर आप लोगों से जो चाहे लिखवा सकते हैं, कहला सकते हैं।

इस छल-प्रपंच का अन्त होना चाहिए। सवाल यह है—कैसे? सरकार इस पर कोई कार्रवाई नहीं कर सकती। यह छल-प्रपंच प्रायः विधान की धाराओं में नहीं आता। इस छल-प्रपंच को दूर करने की, इसके विरुद्ध लड़ने की जिम्मेदारी हम पर है, हमपर जो समाज के पथ-प्रदर्शक होने का दावा करते हैं, जो पढ़े-लिखे हैं, जो सोच-समझ सकते हैं। भारत की नपुंसकता और ग़रीबी के पण्डे ये वैद्य और ज्योतिषी जो समाज का रक्त चूस रहे हैं, उन लोगों के चंगुल से लोगों को बचाना हमारा कर्तव्य है।

संयम का जीवन और आत्मविश्वास—हिन्दुस्तान के जन-साधारण के लिए यही एक दवा है, यही एक सिद्धिदाता कवच है। आज जनता को आवश्यकता है कि वह अपनी कमजोरियों के ऊपर उठे—सत्य, ईमानदारी और सद्‌भावना के साथ कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो। ये कायाकल्प करनेवाले, ये भविष्य बतलाने-

वाले, ये भाग्य बदलनेवाले––समाज को इनकी जरूरत नहीं, यह लोग समाज के पातकों का सृजन करते हैं।

यही क्यों, हम देखते हैं कि व्यापार-क्षेत्र में करीव-करीव हर जगह यह धोखा-धड़ी चल रही है। एक साहेव पाँच रुपये में पाँच घड़ियाँ बेचते हैं, और पाँच घड़ियों के साथ पाँच सौ अन्य चीजें ऊपर से मिलती हैं। घड़ियों की गारंटी भी है––पाँच वर्ष की। और बेचारा अनुभवहीन भोला-भाला दिहाती देखता है कि चीजें लुट रही हैं। वह वी० पी० से माल मँगाता है। पाँच घड़ियाँ जरूर आती हैं, लेकिन वे टीन की खिलौना घड़ियाँ निकलती हैं। और पाँच वर्ष की गारंटी भी ठीक है क्योंकि यह टीन पाँच वर्ष तक गलेगा नहीं, टूटेगा नहीं––अगर आप उसे छुवें न। वाकी ५०० चीजों में सौ आलपीनें हैं, दो सौ परदा बनानेवाले काँच के मोती हैं, सौ टीन के बटन हैं, और सौ ऐसी ही अन्य चीजें हैं।

सरकार ने ऐसे लोगों के खिलाफ कार्रवाइयाँ भी की हैं, लेकिन ये लोग आसानी के साथ अपने बेईमानी से कमाए रुपयों की सहायता से बच जाया करते हैं।

हमें––साहित्यिकों को, पत्रकारों को सोचना पड़ेगा कि क्या इस प्रकार की धोखा-धड़ी में हम साधन नहीं वनते ! यह विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओं में ही तो छपते हैं––और पत्र-पत्रिकाओं का काम होता है पथ-प्रदर्शन करना।

श्रेणी-भेद

मान लीजिये कि आप बुद्धू हैं—लेकिन शायद आप अपने को बुद्धू मानने को किसी हालत में तैयार नहीं होंगे क्योंकि दुनिया में बेवकूफ़-से-बेवकूफ़ आदमी अपने को निहायत अक्लमन्द समझता है—मान लीजिये कि आपके मिलनेवाले कोई सज्जन बुद्धू हैं। और आप हैं पढ़े-लिखे, अक्लमन्द, और आपके कुछ घनिष्ट मित्र भी आपकी ही तरह पढ़े-लिखे व अक्लमन्द हैं। तो आप अपने उन मित्रों के साथ किसी दिन शाम के समय इतमीनान के साथ बैठे। चाय के दौर चले, गरमागरम पकौड़ियाँ, ताजे-ताजे रसगुल्ले और तरह-तरह के खाने आपके सामने हैं। इस बीच में आपके वे मिलनेवाले जो बुद्धू हैं; आपके बीच में कहीं से टपक पड़े।

अब जनाब बात-चीत आरम्भ हुई। किसी ने कालिदास के मेघदूत का एक श्लोक पढ़ा, किसी ने जयदेव का पद गाया, और बारी-बारी से विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारी आदि कवियों ने आप लोगों पर अपना-अपना फेर किया। इस बीच में आपके मिलनेवाले बुद्धू मुँह बाए आपकी बात-चीत सुनते रहे। शुरू में तो उन्हें एक-आध जमुहाई भी आई, लेकिन अन्त में उन्होंने भी जोर मारा और उन्होंने कड़क कर नत्था गुरू की लावनी का एक पद आपको सुनाया। उस हालत में

हुआ यह कि अगर आप किसी क़दर बिगड़े दिल हुए तो आपने, नहीं तो फिर आपके किसी बिगड़े दिल समझदार मित्र ने उनसे कह दिया, "तुम वड़े वदतमीज आदमी हो जी––अगर तुम्हें कुछ समझ में नहीं आता तो चुप क्यों नहीं रहते !" और आपके बुद्धू मिलनेवाले को भी कुछ वुरा लगा। नतीजा यह हुआ कि काफी गाली-गलौज के वाद (मार-पीट की भी नौवत पहुँच सकती है) आपके बुद्धू मिलनेवाले वहाँ से चलते वने।

यहाँ यह स्पष्ट है कि दोनों को कष्ट हुआ, आप लोगों को उन सज्जन के आपके वीच में आ टपकने से, और उनको आप लोगों के बीच में आ फँसने से। आप लोगों के जीवन में एक विषमता है––एक ऐसी चीज़ है जिसके कारण आप लोग एक दूसरे से वहुत दूर हैं।

अनादि काल से मनुष्य मनुष्य में इस प्रकार की विषमता मौजूद रही है, और इसी से विभिन्न प्रकार की श्रेणियों की रचना हुई है। यह रचना की नहीं गई है, यह रचना स्वयं ही हो गई है।

हिन्दुस्तान में यह श्रेणी-विभाजन जाति-पाँते के रूप में हुआ। शिक्षितों और विचारकों की एक श्रेणी वनी, जो ब्राह्मण कहलाई। योद्धाओं की एक दूसरी श्रेणी वनी जो क्षत्रिय कहलाई। वाणिज्य-व्यवसाय करनेवाले दुनियादारों की तीसरी श्रेणी वैश्य कहलाई। और इसके वाद रह गये वे लोग जिनका मानसिक स्तर वहुत नीचा था और उनसे गुलामी करवाने के लिए उन्हें शूद्र कह दिया गया।

हिन्दुस्तान का श्रेणी-विभाजन आर्थिक नींव पर नहीं हुआ

था, वह हुआ था साँस्कृतिक आधार पर। और साँस्कृतिक आधार पर वनी हुई यह वर्ण-व्यवस्था जन्म-जात वन जाने के कारण धीरे-धीरे अभिशाप बन गई। एक बार जो हो गया वह अमिट हो गया, क्योंकि वह धर्म और समाज का आवश्यक अंग वना दिया गया था—उसे सफल वनाकर अनन्त काल तक जीवित रखने के लिए। यद्यपि कार्य-रूप में यह वर्ण-व्यवस्था एक लम्बे काल तक जीवित रहनेवाली सावित हुई, पर कहीं-न-कहीं तो इसकी कमजोरी दिखती ही थी। ब्राह्मणों में योद्धा हुए, क्षत्रियों में चाण्डाल हुए, वैश्यों में पण्डित हुए और शूद्रों में पण्डित हुए। पर नियमों की एक प्रथा है, वे तोड़े-मरोड़े नहीं जा सकते, और उन्हें तोड़ना-मरोड़ना भी उचित नहीं है क्योंकि इससे अराजकता फैलती है, व्यवस्था नष्ट होती है।

पश्चिम में श्रेणी-भेद हुआ, संस्कृति के आधार पर नहीं वल्कि धन के आधार पर! धनवानों की एक श्रेणी वनी, निर्धनों की दूसरी श्रेणी बन गई। और जिसे उच्च संस्कृति कहते हैं वह स्वभावतः धनवानों के ही जिम्मे पड़ी—क्योंकि साँस्कृतिक विकास के साधन उनके पास थे।

समय-समय पर क्रान्तियाँ हुईं, और अन्त में समाजवाद दुनिया के सामने आया। समाजवाद का पहला काम था विषमता को नष्ट करना, और विषमता नष्ट करने के लिए श्रेणी-भेद को मिटाना एक आवश्यक क़दम हो जाता है।

आज का समाजवादी श्रेणी-भेद को मिटाने में विश्वास करता है। इधर हाल में मेरी कई समाजवादियों से मुलाकात हुई, और उनमें अधिकांश ने मुझसे कहा कि "हमें डी-क्लास

होना पड़ेगा ! तुम डी-क्लास नहीं हो पाए !"

'डी-क्लास' होने के अर्थ होते हैं पूर्ण-रूप से श्रेणी-भेद को नष्ट कर लेना, आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी।

इस बात को और भी स्पष्ट करना होगा। समाजवादियों के कथनानुसार-दुनिया में मज़दूरों और किसानों की सब से अधिक संख्या है, और ये मजदूर-किसान पीड़ित हैं, यानी अमीरों के उत्पीड़न के शिकार हैं। और चूँकि बहुमत मजदूर किसानों का है लिहाज़ा शासन-व्यवस्था में भी मज़दूरों-किसानों का पूरा-पूरा हाथ होना चाहिए। आज के वर्तमान समाज में बहुत-से ऐसे लोग उत्पन्न हो गए हैं जो कोई काम नहीं करते, जो दूसरों की मेहनत पर मौज उड़ाते हैं। ऐसे लोगों को नष्ट कर देना चाहिए, यदि वे लोग स्वयं अपने हाथों काम करके मजदूरों-किसानों की श्रेणी में अपने को शामिल नहीं करते।

बात बिलकुल ठीक है। हरेक आदमी को काम करना चाहिए। किसी भी आदमी को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने को दूसरों से ऊँचा समझे, मानव-मात्र बराबर है। और इसीलिए हरेक आदमी जो अपने को ऊँचा समझता है, मन से और कर्म से अपने को ऊँचा समझने की भावना छोड़कर साधारण कोटि में आ जाना चाहिए। जब मैं कहता हूँ 'मन से' तब मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि भेद-भाव विचारों में रहेगा तो कर्म में कभी-न-कभी वह भेद-भाव प्रतिबिम्बित होगा, इसीलिए विचारों में भी श्रेणी-भेद की भावना न होनी चाहिए।

तर्क सुन्दर हैं—और मुझे इन तर्कों पर सोचना ही पड़ता है। और अब इस समय, पूरी तौर से सोचने-विचारने के बाद

मुझे इन तर्कों का दूसरा पहलू भी नजर आ रहा है।

मैंने अपने से पूछा कि क्या मैं एक मजदूर की भाँति गन्दगी के साथ रहता हूँ? क्या उस कमरे में, जिसमें दस मजदूर रहते हैं, घुसते ही मेरा दम न घुटने लगेगा? क्या चरस, बीड़ी और महुए की शराब की बदबू जो उन मजदूरों के रोम-रोम में बस गई है--उससे मेरा जी न मिचलाने लगेगा?

मैं शायद एक साधारण मजदूर से ज्यादा अभी नहीं हूँ। लेकिन फिर भी मैं रेल के तीसरे दर्जे में सफर नहीं कर पाता। एक रात जागकर और बैठे रहकर बिताई जा सकती है, न जाने कितनी बार इस तरह मैंने रातें बिता भी दी हैं, फिर भी आठ-दस रुपये अधिक देकर मैं इन्टर क्लास में चलना ज्यादा पसन्द करता हूँ। और उन आठ-दस रुपयों के अतिरिक्त खर्चे से मुझे असुविधा भी होती है। लेकिन इन्टर क्लास में सफर करने का एकमात्र कारण यह है कि मैं थर्ड-क्लास में सफर करनेवालों के शरीर से तथा वस्त्रों से उठनेवाली दुर्गन्ध को बर्दाश्त नहीं कर सकता, उनकी बात-चीत मेरे कानों को असह्य हो जाती है, मुझे उस समय तक जबतक मैं उनके साथ बैठा रहता हूँ घोर मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा होती है।

अपने समाजवादी मित्रों के मतानुसार मैं 'डी-क्लास' नहीं हो सका हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं हो भी नहीं सकूँगा।

और फिर सवाल उठता है कि 'डी-क्लास' होने की यह आवाज क्या वास्तव में खोखली नहीं है? क्या यह विकास के क्रम में बाधक नहीं है? क्या यह हमें सांस्कृतिक पतन की ओर खींचनेवाली नहीं है?

समता दो तरह से उत्पन्न की जा सकती है। एक तो स्वयं अपनी कोमलता तथा विकसित भावनाओं को नष्ट करके जन-साधारण से अपने को मिला लेने से। मेरे दो-एक मित्रों ने ऐसा किया भी है। सम्पन्न कुलों में वे उत्पन्न हुए हैं, लाड़-प्यार में वे पले हैं। उन्होंने ऊँची-से-ऊँची शिक्षा भी पाई है। लेकिन मैं देखता हूँ कि आज वे ही लोग फटे चिथड़े पहने मजदूरों के साथ रहते हैं, काम करते हैं। अकसर वे रास्ता चलते मिल गये हैं और मैं उन्हें पहचान तक नहीं सका हूँ—बाल बड़े-बड़े, हजामत बढ़ी हुई, कपड़े मैले-कुचैले। उनमें कोमलता नाम की कोई चीज ही नहीं रह गई। और उनके उस मनोविज्ञान का मैं विश्लेषण नहीं कर पा रहा हूँ, शायद उन्होंने अपना जीवन एक कार्य-विशेष को समर्पित कर दिया है।

और दूसरी तरह से भी समता उत्पन्न की जा सकती है—जन-साधारण में कोमल तथा विकसित भावनाओं को जागृत करके, उन्हें पशुता की अवस्था से ऊपर उठाकर मानवता की ओर ले चलने से।

दूसरा उपाय कठिन है—वर्तमान व्यवस्था को देखते हुए। दूसरे उपाय के लिए शिक्षा की एक बृहत् योजना चाहिए। उच्च-श्रेणी से आए हुए ईमानदार कार्यकर्त्ताओं का एक बहुत बड़ा दम चाहिए, और सबसे बड़ी बात—एक लम्बा समय चाहिए।

दूसरा उपाय कठिन है—यह स्पष्ट है, लेकिन पहला उपाय अकल्याणकारी है और मनोवैज्ञानिक ढंग से असम्भव है!

सदियों के क्रमिक विकास के बाद कुछ थोड़े-से लोग बर्बरता और पशुता के ऊपर उठकर विकसित हो सके हैं। सांस्कृतिक

विकास द्वारा वनी हुई श्रेणियों को नष्ट करना असम्भव है। वे समाजवादी जो 'डी-क्लास' होने पर जोर देते हैं, मैं पूछता हूँ कि वे स्वयं 'डी-क्लास' हो सके हैं ?

आर्थिक नींव पर वना श्रेणी-भेद विकास के लिए अहितकर है, लेकिन सांस्कृतिक नींव पर वना हुआ श्रेणी-भेद विकास के लिए अवश्यम्भावी है—वह मिटाया जा ही नहीं सकता। पर दुर्भाग्यवश आज का सांस्कृतिक श्रेणी-भेद आर्थिक श्रेणी-भेद से वुरी तरह सम्बद्ध है और इसीलिए सारी मुसीवत उठ खड़ी होती है।

मैं अपने अनेक साहित्यिक मित्रों को जानता हूँ जो संस्कृति और शिक्षा में बहुत ऊँचे हैं। लेकिन वे निपट मूर्ख, घमण्डी और वदतमीज पूँजीपतियों को अपने से ऊँचा आसन देते हैं, उनका आदर करते हैं, उनको मान देते हैं। मैं सोचता हूँ कि उन मजदूरों के शरीर और कपड़ों से जो बदबू आती है क्या उसकी तुलना इन पूँजीपतियों की आत्मा की सड़न की वदवू से की जा सकती है ? और मैं कहता हूँ कि उन साहित्यकारों में मैं भी हूँ। अपने गत जीवन और वर्तमान जीवन पर जव मैं सोचता हूँ तव मुझे अपने ऊपर ही ग्लानि होने लगती है। मैंने अपने को कितना गिराया है—यही नहीं, इस समय भी मैं अपने को कितना गिरा रहा हूँ—यह सव आर्थिक विवशता के कारण ही।

और मैं समझता हूँ कि सांस्कृतिक श्रेणी-भेद उस समय तक सुसंगठित नहीं हो सकता जब तक वर्तमान आर्थिक विषमता मौजूद है, और जब तक सांस्कृतिक श्रेणी-भेद की रूप-रेखा

स्पष्ट नहीं, तब तक आर्थिक श्रेणी-भेद ही नजरों के सामने आएगा क्योंकि स्पष्टतः आज का सारा श्रेणी-भेद आर्थिक श्रेणी-भेद पर अवलम्बित है। और जब तक यह आर्थिक श्रेणी-भेद मौजूद है तब तक समाजवादियों की 'डी-क्लास' होने की आवाज के खिलाफ़ कुछ क़हा नहीं जा सकता।

हरखू की बरात

मेरे घर से कुछ दूर हटकर एक नाला है और उस नाले के इर्द-गिर्द कुछ झोपड़े हैं। नाले में सैकड़ों कीड़े पैदा होते हैं बिल-बिलाते हैं और मर जाते हैं।

उन झोपड़ों में भी कुछ आदमी ठीक उस नाले के कीड़ों की तरह पैदा होते हैं, बिलबिलाते हैं और मर जाते हैं।

उन झोपड़ों में रहनेवालों में एक नौजवान है—उसका नाम है हरखू !

हरखू नौजवान है, केवल इसलिए कि उसकी उम्र बीस या बाईस साल की है। इसके अलावा उसमें और कोई ऐसा लक्षण नहीं है जिससे वह नौजवान कहा जा सके। उसका कद नाटा है, उसके शरीर पर केवल हड्डी है और चमड़ा है, उसकी आँखें पथराई हुई सी हैं, उसकी कमर झुक-सी गई है। ऐसा मालम होता है कि उसे बचपन से ही खाना नहीं मिला है, और उसकी बाढ़ मर गई है।

और मैं बरामदे में बैठा हुआ देख रहा हूँ कि हरखू की बरात निकल रही है।

मैं अभी-अभी एक बरात से वापस लौटा हूँ। उस बरात में पाँच बैण्ड थे, दो सौ मोटरें थीं, फुलवारी थी, आतिशबाजी थी। हजारों बराती इकट्ठा हुए थे, एक-से-एक कीमती कपड़े

पहने हुए। वर एक गोल-मटोल खूबसूरत-सा नवयुवक था और उसकी मोटर फूलों से सजी हुई थी। वर की मोटर को सजाने वाले फूलों की कीमत ही पचास-साठ रुपए रही होगी।

और इस समय मैं दूसरी बरात देख रहा हूँ। मुश्किल से दस-बारह आदमी, जिसमें अधिकांश नंगे पैर। बाजा के नाम पर एक हुड़क। और वर महोदय भी एक लाल चमरौधा पहने पैदल ही चल रहे हैं।

मैं देख रहा हूँ कि हरखू और उसके बराती उतने ही प्रसन्न हैं जितने पहली बरात वाला वर और बराती थे। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि पहली बरातवाला वर थोड़ी-सी गमी मुद्रा भी बनाए था, शायद इसलिए कि ऐसे अवसरों पर अपनी प्रसन्नता को जाहिर करना सभ्य समाज में अशिष्टता का चिह्न समझा जाता है। लेकिन हरखू हँस रहा है।

इस हरखू को मैं कई महीनों से जानता हूँ। वह मेरे सामने वाले मकान में बरतन मलता है। गालियाँ सुनता है और कभी-कभी पिटता भी है। लेकिन गाली और मार का उसने कभी बुरा नहीं माना, शायद उसके अन्दर वाला जो बुरा मान सकता था, उसकी मृत्यु हो चुकी है, या फिर यों कहा जा सकता है कि उसके अन्दर बुरा मानने वाला कभी पैदा ही नहीं हुआ। वह आठ रुपया महीना पाता है, और सौदा-सलूफ में चोरी करके—जिसके कारण ही उसे अकसर मार खानी पड़ती है—वह महीने में दो-चार रुपया और बना लेता है। उसे साल में एक दिन की भी छुट्टी नहीं मिलती, छुट्टी वह तभी पा सकता है जब वह बीमार पड़े। और बीमार वह पड़ता नहीं। हाँ, उसे

बुखार अकसर आ जाया करता है, लेकिन वह बुखार जूड़ी का होता है और अवसर पर मकान मालिक उसे अपने घर के एक कोने में इसलिए जगह दे देता है कि बुखार उतर जाने पर वह चौका बरतन कर दे।

तो आज हरखू का विवाह हो रहा है और हरखू की बरात निकल रही है।

हरखू की बरात निकल जाती है, और मैं सोचने लगता हूँ!

आखिर हरखू विवाह क्यों कर रहा है? कल से ही उसकी पत्नी को भी दूसरों का चौका-बरतन करना होगा। कल से ही हरखू और हरखू की बीवी में गाली-गलौज़ होगी। हरखू अपनी बीवी को मारेगा, हरखू की बीवी उसे गालियाँ देगी।

उन झोपड़ों में रोज़ ही यह हुआ करता है, हरखू और उसके भाई-बन्दों के लिए वह स्वाभाविक है, उनके जीवन का एक भाग है। हरखू रोज यह देखता-सुनता है और मैं सोच रहा हूँ सब कुछ देखते-सुनते हुए, जानते-बूझते हुए हरखू अपने लिए एक और नया नरक क्यों तैयार कर रहा है? क्या उसे उस नरक से संतोष नहीं जो उसके जीवन में अभी मौजूद है?

इसी समय मुझे हरखू की उस निर्जीव मुद्रा की याद आ जाती है जो मैं रोज़ ही देखा करता हूँ। मैं सोचने लगता हूँ—क्या हरखू के लिए कोई नरक है भी? क्या उसमें इतनी चेतना है कि वह अपने जीवन के नरक को देख सके?

जहाँ तक मेरा अनुमान है, हरखू यह भी नहीं जानता कि स्वर्ग क्या है। जिन्दगी में उसे स्वर्ग देखने का, उस स्वर्ग को अनुभव करने का कभी कोई अवसर ही नहीं मिला। और जब

वह स्वर्ग नहीं जानता तव वह नरक कैसे जान सकता है ? यह जो कुछ है, जिसे मैं उसके जीवन का नरक समझता हूँ । यदि उसके जीवन का अस्तित्व है । उसके लिए यह न स्वर्ग है न नरक है, यही उसका जीवन है ।

हरखू की वरात निकल रही है—कितने ही हरखुओं की वरातें निकल चुकी हैं, कितने ही हरखुओं की वरातें निकलने वाली हैं । यदि ये वरातें न होतीं तो ये हरखू भी न होते ।

लेकिन कुछ समझ में नहीं आता । आखिर हरखू भी तो मनुष्य है, इसी पृथ्वी पर रहनेवाला । वही चेतना, वही आत्मा, वही हाड़-मांस, वही रहा जो हम सब में है वही हरखू में भी है । तो फिर इतनी विषमता क्यों ? उधर इस वरात में सैकड़ों मोटरें, वैण्ड, आतिशवाजी, फुलवारी और इधर इस वरात में लोग पैदल—चिथड़े पहने हुए, गरीबी में चूर ।

"यह सव क्यों ?" मैं झुँझला पड़ता हूँ । 'इस सवको किसने वनाया है ?' मैं पूछ रहा हूँ—ठीक उसी तरह जिस तरह आज की समस्याओं में उलझा हुआ हरेक आदमी पूछता है। और ठीक उसी तरह मुझे उत्तर भी मिलता है, 'इस सवको हमने वनाया है—हम मनुष्यों ने ।'

लेकिन दूसरों में और मुझमें कुछ अन्तर है । दूसरे दोष देते हैं उत्पीड़ित करने वालों को, लेकिन मेरी तवीयत नहीं होती कि मैं उत्पीड़ित करने वालों को दोष दूँ । मैं तो समझता हूँ कि दोषी हैं उत्पीड़ित होने वाले । अगर आज ये उत्पीड़ित होने वाले यह तै कर लें कि वे दूसरों के उत्पीड़न का शिकार न वनेंगे तो देखें कि उन्हें कौन उत्पीड़ित कर सकता है ।

और यहाँ फिर एक समस्या उठ खड़ी होती है। मैं जानता हूँ कि मनुष्य में यह दृढ़ता हो सकती है कि वह उत्पीड़ित होने से इनकार कर दे। लेकिन उत्पीड़ित होने से इनकार करने के लिए मनुष्य में यह ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है कि आत्मा की मृत्यु की अपेक्षा शरीर की मृत्यु कहीं अच्छी है। उन्हें यह ज्ञान लेना चाहिये कि उत्पीड़न को बर्दाश्त करके वे अपने शरीर की रक्षा भले ही कर लें, लेकिन वे अपनी आत्मा की हत्या हो जाने देते हैं।

मैं पूछ रहा हूँ कि दुनिया में कितने आदमी हैं जिनमें यह ज्ञान है और जो इस ज्ञान पर अमल करते हैं! मैंने बड़े-बड़े पढ़े-लिखे, सम्पन्न आदमी देखे हैं—ऐसे आदमी हैं जो समाज में प्रतिष्ठित समझे जाते हैं, मान्य हैं जो स्वयं उत्पीड़क कहलाते हैं। और जब मैं उन लोगों की आत्मा को देखता हूँ तो मेरे दिल को एक भयानक ठेस-सी लगती है। इनमें से हरएक आदमी की आत्मा भयानक-रूप से विकृत हो चुकी है—प्रायः मर-सी चुकी है। धन ने इनकी आत्मा को नष्ट कर दिया है, यह उत्पीड़क स्वयं धन के पिशाच द्वारा किस बुरी तरह उत्पीड़ित हैं!

हमें शिक्षा की आवश्यकता है, उस शिक्षा की नहीं जो हमें नित्य ही मिला करती है क्योंकि वह शिक्षा केवल अक्षर-ज्ञान और शब्द-ज्ञान है। हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिससे हमें अपना ज्ञान हो, अपनी आत्मा का ज्ञान हो।

शिक्षकों की कमी नहीं। नये-नये सिद्धान्तों को लेकर नित्य ही अनेक शिक्षक पैदा होते हैं, और समस्याओं का निदान भी

बतलाते हैं । लेकिन वे समस्याओं को ठीक तरह से समझ नहीं पाते क्योंकि स्वयं उन्होंने ठीक तरह की शिक्षा नहीं पाई । उनमें आत्मज्ञान नहीं है, आत्मानुभूति नहीं है । हमें ज़रूरत है उन लोगों की जो दूसरों को शिक्षा न देकर स्वयं अपने को समझने की कोशिश करें, स्वयं आत्मानुभूति करें ।

अहम का विकास

आज दो सज्जनों से मेरी जो बातचीत हुई उसने मुझे एक अजीब चक्कर में डाल रक्खा है। एक सज्जन एक नवयुवक कवि हैं। वे घर के सम्पन्न आदमी हैं, उनकी पुस्तक अभी हाल में ही प्रकाशित हुई है और उन्हें अपनी पुस्तक की प्रशंसा में आज सुबह दो पत्र मिले थे। एक पत्र हिन्दी के एक सुविख्यात आलोचक का था, दूसरा पत्र किसी महिला का था जो उनकी कविता पढ़कर इतनी प्रभावित हुई थीं कि वह कवि को पत्र लिखकर बधाई देने का लोभ संवरण नहीं कर सकीं। स्वभावतः कवि महोदय प्रसन्न थे--और अपनी इस प्रसन्नता की झोंक में आकर उन्होंने मुझे एक मशहूर होटल में ले जाकर चाय पिलाई और फिर अपनी कार पर बिठा कर वे मुझे घुमाने ले गए। उस समय सूर्यास्त हो रहा था और गंगा के पुल पर से मोटर जा रही थी। उन नवयुवक कवि ने उस समय मुझसे कहा था, "वर्माजी! कितना सुन्दर दृश्य है! प्रकृति की सुषमा निखरी पड़ती है। लेकिन हमारे पास इस सौन्दर्य को देखने का समय नहीं है, प्रकृति के इस वैभव का हम उपभोग नहीं कर पाते!" और इतना कहकर वे हँस पड़े थे।

उन कवि महोदय ने मुझे अपने आफिस में उतार दिया, दूसरे दिन मेरा पत्र निकलने वाला था, और आखिरी फर्मे

के प्रूफ वगैरह मुझे देखने थे । दफ्तर में देखता क्या हूँ कि एक सज्जन बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं । ये सज्जन एक प्रसिद्ध लेखक हैं, काफ़ी वयस्क और सुलझे हुए । एक लम्बी गृहस्थी का भार इनके ऊपर है और इधर कई महीनों से वे वेकार हैं । उनकी वातचीत से मुझे पता लगा कि उनकी पत्नी बीमार हैं, और पत्नी का इलाज कराने के लिए उनके पास पैसे नहीं हैं । दिनभर पैसों की तलाश करते रहे, लेकिन हर जगह उन्हें निराशा मिली और दिनभर उन्होंने खाना भी नहीं खाया ।

दफ्तर से वे मेरे साथ ही चले । हम दोनों पैदल चल रहे थे और वे कह रहे थे, "यह दुनिया कितनी कुरूप है—कितनी दुखी है । चारों ओर रोना-ही-रोना है । मुझे ताज्जुब होता है कि लोग हँस किस प्रकार सकते हैं ?"

और इस समय मैं सोच रहा हूँ कि किसकी वात ठीक है ? उस सम्पन्न नवयुवक कवि की या उस वेकार प्रसिद्ध लेखक की ? दोनों ने एक दूसरे की विरोधी वात कही थी, और दोनों ने वही वात कही थी जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था । फिर भी जिस दुनिया के सम्वन्ध में ये वातें कही गयी थीं वह तो एक है । यह दुनिया सुन्दर है—यह दुनिया कुरूप है, इस दुनिया में हँसी है, इस दुनिया में रुदन है ।

इस समय मुझे तुलसीदास की एक चौपाई याद हो आई जो उन्होंने रामचन्द्र जी के रूप के सम्वन्ध में कही थी लेकिन जो दुनिया पर भी लागू होती है :—

"जाकी रही भावना जैसी । प्रभु-मूरत देखी तिन तैसी ।।"

इस स्थान पर मैं कहूँगा--"जाकी रही भावना जैसी, यह दुनिया देखी तिन तैसी।"--और मैं एकाएक कह उठता हूँ, यह दुनिया वैसी है जैसी उसे देखनेवाला देखता है।

एकाएक मेरे मन में एक प्रश्न उठता है, "क्या यह सम्भव है कि कोई आदमी दुनिया की असलियत को देख सके--समभाव से दुनिया की सुन्दरता और कुरूपता को निश्चित कर सके?" जो आप भी दुनिया का है वह दुनिया से सम्बद्ध है, उसके सुख-दुख दुनिया से बँधे हुए हैं, दुनिया के विषय में सही निर्णय देना उसके लिए असम्भव है। दुनिया को सही तरीके से देखने के लिए यह आवश्यक होगा कि दुनिया से ऊपर उठा जाय और दुनिया में रहते हुए दुनिया से ऊपर उठना सम्भव नहीं।

इस कमरे में बैठा हुआ मैं कह उठता हूँ, "यह सब गलत बात! सत्य वह है जो कुछ मैं देखता हूँ, अनुभव करता हूँ। दूसरे भी अनुभव करते हैं, देखते हैं--पर उससे मुझे क्या? जब तक मैं देख सकता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ तबतक यह दुनिया है, और उसके बाद एक गहन अन्धकार!"

यह मैं क्या कह गया? जो कुछ मैंने कहा उसके अर्थ तो यह होते हैं कि मैं सत्य हूँ और नित्य हूँ, बाकी सब मिथ्या है। क्या मैं कहना चाहता हूँ कि जो कुछ है वह मैं हूँ, मेरे ऊपर, मुझसे अलग कोई चीज़ नहीं है। मैं सोचता हूँ और मैं इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि मैं यही कह रहा हूँ! जो कुछ है वह मैं हूँ, मुझसे अलग कोई चीज़ नहीं है। हरेक आदमी पर यही बात लागू होती है, हरेक आदमी का अहम उसके लिए सत्य है और नित्य है। जो यह कहता है वह अहम के ऊपर

उठ चुका है या उठ सकता है वह या तो दुनिया को धोखा देता है या फिर अपने को धोखा देता है ।

लेकिन मैं यह सब क्या कह रहा हूँ और क्यों कह रहा हूँ ? इस कमरे में बैठा हुआ मैं इस कमरे को अपना कह सकता हूँ, लेकिन मैं जानता हूँ कि कुछ समय पहले इस कमरे को कुछ ऐसे लोगों ने अपना कहा होगा जो आज मर चके हैं और कुछ समय वाद इसी कमरे को कुछ ऐसे लोग अपना कहेंगे जिनका आज जन्म भी नहीं हुआ है । यह दुनिया स्थिर है--नश्वर है मनुष्य जो 'अहम' को लिये हैं ।

"नश्वर है मनुष्य जो 'अहम्' को लिये है !"—यह बात नई नहीं है; हरेक वड़ा विचारक यह कह गया है, हरेक धर्म में यह बात कही गई है ! लेकिन अपनी नश्वरता की कल्पना करता हुआ और दुनिया की स्थिरता को अनुभव करता हुआ मैं इस बात को मानने से इनकार कर रहा हूँ ! रह-रह कर मेरे अन्दर से कोई कह रहा है, "यह सब गलत है—मैं सत्य हूँ, मैं नित्य हूँ ! मेरी आँखों के आगे जब तक यह दुनिया है तब तक इस दुनिया का अस्तित्व है और जब मेरी आँखों के आगे अन्धकार होगा तब सब कुछ अन्धकार होगा, शून्य होगा ! यह दुनिया रहेगी—मैं नहीं कह सकता, कम-से-कम मेरे किए तो नहीं रहेगी । दूसरों के लिए रहेगी, यह मैं नहीं जानता—मैं दूसरा तो नहीं हूँ इसलिए मैं जान भी नहीं सकता ।"

दुनिया का रूप वह है जो मैं देखता हूँ—एक यही सत्य है । इसी सत्य को आज मुझसे मिलनेवाले दो सज्जन कह गए हैं, इसी सत्य को हरेक आदमी उस समय प्रकट करता है जिस

समय वह प्राकृतिक ढंग से बातें करता है, जिस समय वह ज्ञानी अथवा विचारक होने का दावा नहीं करता।

इसके बाद एक और भी जटिल प्रश्न मेरे सामने उठ खड़ा होता है। "अगर मैं सत्य हूँ और नित्य हूँ तो मेरे कर्म भी सत्य हैं, प्राकृतिक हैं क्योंकि मेरा प्रत्येक कर्म 'अहम' की तुष्टि के लिए होता है। ऐसी हालत में मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मेरा कर्म भला है या बुरा है। यही नहीं, अगर दूसरे लोग मेरे कर्म को भला या बुरा कहते हैं तो वे गलत कहते हैं।"

लेकिन फिर भी दुनिया में पाप है, पुण्य है, भला है, बुरा है। यही नहीं, दूसरे लोग हमारे कर्मों पर हमें दण्ड भी देते हैं, ताड़ित करते हैं। मेरे लिए जो कर्म प्राकृतिक है वह स्वभावतः पाप-पुण्य से परे है, पर दूसरे ऐसा मानने को तैयार नहीं। पग-पग पर हमारे सामने बाधाएँ उपस्थित होती हैं, 'अहम' को तुष्ट करनेवाले हमारे कर्मों का विरोध होता है। दूसरे हमारे 'अहम' को स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि दूसरे अपने निजी 'अहम' को स्वीकार करनेवाले होते हैं—उनके लिए तो उनका निजी 'अहम' सत्य है और नित्य है।

अपना हित अपना सत्य है—उसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि दुनिया में हर तरफ़ मैं यही देखता हूँ। आज तक मैंने ऐसा आदमी नहीं देखा जो अपने 'अहम' के ऊपर उठ सका हो—आज तक मैंने ऐसा आदमी नहीं देखा जिसने अपनी इच्छा से ऐसा काम किया हो जिसमें उसे सुख न मिलता हो। ये बड़े-बड़े पुण्यात्मा, ये बड़े-बड़े दानी, जिनकी हम नित्य प्रशंसा करते हैं, इनकी असलियत मैं जानता हूँ। मैं कहता हूँ

कि अगर इन्हें पुण्य करने में सुख न मिलता, दान देने में सुख न मिलता तो यह सब ये कभी न करते। जो आदमी दूसरों के दर्द से द्रवित होकर अपना सब कुछ दे देता है, वह केवल इसलिए करता है कि वह अपने अन्दर वाली करुणा की भावना को तुष्ट करे। अपने 'अहम' की प्रेरणा से ही वह यह करता है। वह उपकार करता है क्योंकि उपकार करने में ही उसे सुख मिलता है, वह दान देता है क्योंकि दान देने में ही उसे संतोष होता है। यह सुख और संतोष ठीक उसी तरह का है जैसा शरावी को शराब पीने से, जुवारी को जुआ खेलने से अथवा क्रूर आदमी को दूसरों को सताने से प्राप्त होता है।

फिर इस पाप-पुण्य का महत्व क्या है ? मैं सोच रहा हूँ ! और अनायास ही मेरे अन्दर से कोई कहता है, "हाँ, मैं अपने लिए जीवित अवश्य हूँ, पर दूसरों से सम्बद्ध होकर जीवित हूँ। मेरे पास 'अहम' है, दूसरों के पास 'अहम' है और विभिन्न व्यक्तियों के 'अहम' में संघर्ष है। संघर्ष विनाश है। लेकिन 'अहम' की भावना है आत्म-रक्षा। इस आत्म-रक्षा के लिए इस अस्तित्व की भावना को तुष्ट करने के लिए हमें कर्म करना है। हमारा प्रत्येक कर्म 'अहम' को तुष्ट करने को होता है और अस्तित्व की भावना 'अहम' की पहली भावना है। इसीलिए हमने पाप-पुण्य को स्वीकार किया है, इसीलिए हमने 'भला-बुरा' माना ताकि प्रत्येक आदमी 'अहम' को दूसरों के प्रहारों से सुरक्षित रख सके।"

और यहीं हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि सब का दिल हमारे उस समाज का सत्य है जिसे हम सबने अपनी रक्षा

के लिए बनाया है। उस समाज का सत्य मानवता का सत्य है क्योंकि मनुष्य दूसरों से सम्बद्ध जीवित रहता है। यहाँ फिर एक सवाल उठता है, "क्या यह दूसरों का खयाल, दूसरों के प्रति अपना सद्भाव अपनी सुविधा के लिए भावना से प्रेरित है या हममें प्राकृतिक है ?" उत्तर भी वही है, भावना हमारी है—हमारे अन्दर की है इसलिए प्राकृतिक है। दया, करुणा, त्याग, प्रेम—ये भावनाएँ हमारे अन्दर मौजूद हैं—इनका विकास भर हमारी सुविधा के लिए आवश्यक है।

मनुष्य का विकास मानवता का विकास है—यह उन भावनाओं का विकास है जो दूसरों से सम्बद्ध जीवित रहने में हमें सहायक हों। पशुता को छोड़ने के अर्थ होते हैं पशुता की भावनाओं यानी क्रूरता, घृणा, लिप्सा आदि को छोड़ना मानवता का सत्य है दूसरों का 'हित' ? और इसलिए यह मानते हुए ही कि जो कुछ है वह 'अहम' है, हम मानवता के विकास की ओर बढ़ सकते हैं। 'अहम' को इतना विकसित कर लेना कि वह मानवता की आवश्यक भावनाओं को पूर्ण रूप से अपने में विकसित कर ले, 'अहम' के सत्य में मानवता के सत्य को भर ले—यही मानवता का विकास है।

'आज' दुनिया में इस बात को कहने वाले बहुत हैं कि प्रत्येक बुराई का कारण है 'अहम' का अस्तित्व। मैं उनकी बात समझ नहीं पाता। मैं पूछता हूँ "क्या 'अहम' नष्ट किया जा सकता है ?" दुनिया में कई स्थानों पर कुछ आदमियों ने दूसरों के 'अहम' को नष्ट करने के प्रयत्न किये हैं, इसमें वे किसी अंश तक सफल भी हुए हैं—'किसी अंश तक, इसलिए

कि वे दूसरों के 'अहम' को पूर्ण रूप से नष्ट तो नहीं कर सके, नष्ट करना सम्भव भी नहीं है, दबा अवश्य सके हैं, इस कदर दबा सके हैं कि दूसरे पशु बन गए हैं। इस 'अहम' के अर्थ-विकास के कारण जो समस्याएँ उठ खड़ी थीं, जो संघर्ष पैदा हो गए थे, कुछ समय के लिए उनका निदान तो अवश्य हो गया है, पर इस सबका कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा है ? हमने यह सब मनुष्यता से नीचे गिरकर यानी पशुता को अपना कर किया है। और यह कब तक कायम रहेगा ? हम मनुष्य हैं, मनुष्यता का विकास अवश्यम्भावी है ! हमें फिर से प्रयत्न करना पड़ेगा। वे समस्याएँ जिन्हें सुलझाते-सुलझाते हम उनकी अन्तिम और सबसे कठिन गाँठों तक पहुँच चुके थे, अब फिर उलझ गई हैं। उन्हें फिर से हमें सुलझाना पड़ेगा।

बीमारी का कारण

एक दिन एकाएक मैं बीमार पड़ गया। बीमार तो दुनिया पड़ा करती है लेकिन दुनिया की बीमारी में और मेरी बीमारी में कुछ अन्तर था। शाम को अच्छा-खासा था, जोरों के साथ बहस-मुबाहिसा कर रहा था, और सुबह जो उठा तो एक अजीब-सी घबराहट और बदहवासी !

डाक्टर ने बतलाया कि तुम सोचते बहुत हो, फ़िक्र तुम पर सवार है, ज़रूरत से ज्यादा गम्भीर हो गए हो। और इसीलिए यह फ़िसाद पैदा हुआ है। उसने सलाह दी कि हँसा करो और मस्त रहा करो।

और मैं सोच रहा हूँ कि मेरी वह सारी हँसी-खुशी और मस्ती कहाँ गई ? इधर कुछ दिनों से मुझमें यह महान परिवर्तन क्यों हो गया है ? आज मुझे अपने चारों ओर सब कुछ खोखला-सा क्यों नज़र आता है ?

इस पर मेरे कुछ मित्रों का कहना है कि मैं सम्पादक बन गया हूँ ? कुछ का कहना है कि मैं अहिंसावादी बन गया हूँ !

इस मौके पर मुझे कुछ साल पहले की एक घटना याद हो आई। एक दिन सुबह के समय मैं एक साप्ताहिक पत्र के दफ्तर में पहुँचा। दफ्तर में एक सज्जन लँगोट बाँधे दण्ड लगा रहे थे। ये सज्जन काफ़ी तगड़े थे और दाढ़ी, मूँछ, सर सब कुछ बड़ी

सफ़ाई के साथ घुटाए हुए थे। मुझे देखते ही वोले "कहिये किससे मिलना है ?"

"सम्पादक जी के दर्शन करना है।" मैंने उत्तर दिया।

"अच्छा, आप कुरसी पर बैठिये, सिर्फ पचास दण्डें बाकी हैं, पूरी करके सेवा में उपस्थित होता हूँ।"

मैं जैसे आसमान से गिरा। सम्पादक जी के उस रूप की मैंने कल्पना ही न की थी। कसरत समाप्त करके वे मुझे दर्शन देने उपस्थित हुए !

"कहिये, आप की क्या सेवा कर सकता हूँ ?"

मैं सकपकाया हुआ तो था ही, न जाने क्यों मैं पूछ बैठा, "पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आपकी इस कसरत का आपकी सम्पादकी से कोई सम्बन्ध है ?"

सम्पादक महोदय खिलखिला कर हँस पड़े, "अच्छा तो आप मेरा इन्टरव्यू लेने आए हैं ! तो सुनिये, मेरा ऐसा खयाल है कि जो आदमी हृष्ट-पुष्ट नहीं है वह सफल सम्पादक वन ही नहीं सकता।"

मुझे सम्पादक महोदय की वातों में दिलचस्पी आने लगी थी, "यह कैसे ?"

"यह इसलिए कि एक सुयोग्य और ईमानदार सम्पादक को स्पष्ट-वक्ता होना चाहिये, और खरी वात सुनने को लोग तैयार नहीं। अफसर लोग डण्डा लेकर मेरे यहाँ जवाव तलव करने आते हैं, और ऐसी हालत में मुझे उनका उत्तर भी अपने इस डण्डे से देना पड़ता है !" सम्पादक महोदय ने अपनी बगल में रक्खे हुए एक मोटे-से डण्डे को—जैसा डण्डा कुछ दिन पहले

प्रायः कट्टर आर्य समाजियों के हाथ में देखा जाता था––दिखाते हुए कहा, "और मैं कहता हूँ कि इस डण्डे को धारण करने के लिए मनुष्य में बाहुबल भी चाहिए। आप यह समझ लें कि दो-चार आदमियों से तो मैं अकेले निहत्थे निपट सकता हूँ, डण्डे की आवश्यकता तो तब पड़ती है जब दस-पाँच आदमी हों।"

थोड़ी देर चुप रहकर सम्पादक महोदय ने फिर कहा, "और आप पूछ सकते हैं कि मैंने दाढ़ी, मूछ और सर क्यों घुटवा रक्खा है, तो इसका भी किस्सा आप सुन लीजिये। एक बार एक देवी जी पधारीं, और बिना कुछ कहे-सुने उन्होंने मेरे लम्बे घुँघराले बालों को पकड़ कर नोचना शुरू कर दिया। गजब की औरत थी, सर के चौथाई बाल और आधी मूछ उसने उखाड़ दी। उसी दिन से दाढ़ी, मोंछ, सर सभी कुछ घुटाना शुरू कर दिया ताकि दुश्मन को बेजा तौर से वार करने का कोई मौका ही न मिले।"

उस दिन तो मैंने उस सम्पादक को सनकी समझा था, लेकिन आज देखता हूँ कि बात उसने पते की कही थी। सम्पादकी करना वाकई बड़ा कठिन काम है। सफल सम्पादक तभी बना जा सकता है जब मनुष्य मार खाने पर और मारने पर आमादा हो जाय।

लेकिन आदमी मैं शरीफ़ हूँ, मार-पीट मैंने एक अरसा हुआ छोड़ दी। और सम्पादकी मुझे करनी है। लिहाज़ा केवल एक उपाय नज़र आया––अहिंसावादी बना जाय।

कहीं लोग यह न समझ बैठें कि मैं अहिंसावादी महज़ सुविधा के लिए बन गया हूँ। कहा न, मार-पीट मैंने एक अरसा हुआ छोड़

दी क्योंकि मार-पीट को मैं इन्सानियत के खिलाफ़ समझने लगा। मार-पीट छोड़ने के बाद कुछ दिनों तक गाली-गलौज पर सब्र किया, लेकिन इस गाली-गलौज को मैंने और भी इन्सानियत से गिरा पाया, और धीरे-धीरे मैं मानवता को अपनाने का प्रयत्न करने लगा।

अहिंसावादी तो मैं एक अरसे से धीरे-धीरे बन रहा था, लेकिन सम्पादकी का भार सम्हालते ही मुझे सोलह आना अहिंसावादी एक बार ही बन जाना पड़ा। इसका कारण यह था कि पत्र हाथ में आते ही मुझे अपने विश्वासों को व्यक्त करने का मौका मिला और विश्वासों को व्यक्त करने के साथ-साथ मेरी मानवता मुझे मजबूर करने लगी कि मुझे खुद अपनी ज़िन्दगी को अपने विश्वासों के अनुसार ढालना चाहिये।

और इसीलिए मुझे नर्वस-ब्रेकडाउन हो गया—यानी मैं एकाएक बीमार पड़ गया।

तो अब यह सोच रहा हूँ कि थोड़े दिनों के लिए यह अपनी सारी गम्भीरता, अपनी सारी नेतागीरी, दुनिया को ऊपर उठाने का यह उत्तरदायित्व जो मैंने खुद-ब-खुद अपने ऊपर लाद लिया है, ज़रा अलग रख दूँ और कुछ दिनों के लिए आ जाऊँ उसी पुरानी धजा पर।

लेकिन यहीं सारी मुसीबत पैदा हो जाती है। अपने विश्वासों को कैसे बदल लूँ? यह प्रश्न मेरे सामने है। मैं जानता हूँ कि मैं पीछे नहीं जा सकता—पीछे जाना असम्भव है। एक-एक कदम चलकर मनुष्य मृत्यु के मुख में जा रहा है, अगर वह एक कदम भी पीछे हट सकता तो वह अमर न बन जाता! आगे बढ़ना ही

जीवन का क्रम है, संसृति का एकमात्र सत्य है।

आज मैं अपने एक दोस्त से यही कह रहा था। मेरे वे मित्र अनुभवी और दुनियादार आदमी हैं गोकि उम्र में मुझसे काफी छोटे हैं। उन्होंने मुझसे साफ़ कहा, "आप अपने विश्वासों को कहिये, प्रकट कीजिये लेकिन करिये वह जो आपकी तबीअत में आवे ! करने से आपको कौन रोकता है ?"

मैंने कहा, "मैं आपकी बात नहीं समझा, ज़रा और स्पष्ट कीजिये !"

और उन्होंने बात स्पष्ट की, "बात यह है कि आज के जितने अहिंसावादी नेता हैं उनमें अधिकांश ऊँची-ऊँची बातें कहते हैं। लेकिन जब इनकी ज़िन्दगी की तरफ़ नज़र डाली जाती है तब यह साधारण आदमियों की ही तरह गिरे हुए नज़र आते हैं। लेकिन फिर भी मान में और प्रतिष्ठा में आपसे कहीं ऊपर हैं !"

मैंने अपने उन मित्र को यह समझाने की कोशिश की, कि मान और प्रतिष्ठा के लिए मैं यह सब कुछ नहीं कर रहा हूँ, मान और प्रतिष्ठा की मुझे परवाह भी नहीं है। लेकिन मेरे उन मित्र को मेरी बातें ज़रा भी समझ में नहीं आईं।

लेकिन देखता हूँ कि मेरे मित्र की बातों में यद्यपि सत्य नहीं है, पर वे बातें हैं किसी कदर मार्के की। वे लोग जो कहते हैं, करते नहीं, और करने की परवाह भी नहीं करते, काफ़ी सुखी हैं। उनका चारों ओर आदर होता है। उनका मान है, उनकी प्रतिष्ठा है। वे पैसेवाले हैं, वे सम्पन्न हैं। उनके घरों में अभाव नहीं, दरिद्रता नहीं। हाँ, एक बात में मैं अपने को उनसे ऊपर समझ सकता हूँ, और शायद समझता भी हूँ—वह यह कि सत्य मेरे साथ है।

लेकिन यहाँ भी एक मुसीबत मेरे सामने उठ खड़ी होती है।

एक दफ़े की बात है——मैं एक मैदान के पास से जा रहा था। उस मैदान में भीड़ जमा थी, और उस भीड़ को देख कर मुझमें कौतूहल पैदा हुआ। यह देखने के लिए कि वहाँ क्या हो रहा है, मैं उस भीड़ की ओर बढ़ा। भीड़ के बीचों-बीच एक सज्जन खड़े थे और उनके पैरों पर कुछ अजीब-गरीब सामान रक्खा था——यानी आदमी की खोपड़ी, बन्दर की खोपड़ी, डमरू और न जाने क्या-क्या। वे कह रहे थे, "भाइयो! ये दोनों खोपड़ियाँ एक-दूसरे से बातें करेंगी!" और वे डमरू बजा रहे थे। उस बाज़ीगरी के तमाशे को देखने के लिए मैं भी खड़ा हो गया।

मदारी महोदय ने दोनों खोपड़ियों को दस कदम के फ़ासिले पर आमने-सामने रख दिया, फिर उन खोपड़ियों पर कपड़ा उढ़ा दिया। इसके बाद वह बोले, "हज़रात! दस मिनट बाद इन खोपड़ियों में हरकत पैदा होगी और ये अपने ऊपर वाला कपड़ा खुद-ब-खुद हटा देंगी। और फिर आप दुनिया का एक निहायत हैरत-अंगेज़ तमाशा देखेंगे।"

इसके बाद उन्होंने अपने झोले से एक पोटली निकाली, पोटली खोलकर अपने सामने रक्खी, उससे जड़ी-बूटियाँ निकाल कर अपने सामने सजाई। फिर उन्होंने कहना आरम्भ किया, "और हज़रात इस बीच में मैं हज़रत लुकमान के कुछ नुस्खों को आपके सामने पेश करता हूँ। ये जड़ी-बूटियाँ खास हिमालय पहाड़ की हैं, बड़ी मुश्किल से पाई जाती हैं। ये जड़ी-बूटियाँ कमज़ोरी का शर्तिया इलाज हैं। हज़रत लुकमान ने यह बूटियाँ बादशाह फिरंग के वास्ते ढूँढ़ी थीं और बादशाह फिरंग ने हज़रत लुकमान

को दस करोड़ रुपए दिये थे। और एक मैं हूँ कि आपके सामने ये आला नुस्खे मिट्टी-मोल पेश कर रहा हूँ। किसी तरह की सुस्ती, कमज़ोरी की शिकायत हो—एक हफ्ते में शर्तिया अच्छी होती है। और कीमत सुनकर आप हैरत में आ जाएँगे। एक हफ्ते की चौदह खूराकें जिनकी कीमत सिर्फ़ साढ़े तीन आने। तीन आने मुझे दीजिये, दो पैसे हज़रत लुकमान का नाम लेकर खैरात कर दीजिये, वर्ना आपको फ़ायदा न होगा। लुटा रहा हूँ हज़रात—दौलत, इज्जत, जवाँमर्दी—लूटिये, सिर्फ़ साढ़े तीन आने में!"

मैं वहाँ करीब दो घण्टे खड़ा रहा, लेकिन न उन खोपड़ियों में कोई हरकत हुई और न कोई बातचीत हुई। हाँ दो घण्टे में उस मदारी ने करीब दस रुपए की दवाएँ ज़रूर बेंच लीं। भीड़ छट गई और उस मदारी ने अपना झोला सम्हाला। मैंने बढ़कर उससे कहा, "जनाब, इन खोपड़ियों में तो कोई बातचीत नहीं हुई!"

मेरी बात सुनते ही वह हँस पड़ा, "अजी बाबू जी—वह तो भीड़ इकट्ठा करने का बहाना था। मैं कोई मदारी थोड़े ही हूँ, मैं तो दवा फ़रोश हूँ।"

मैंने उससे पूछा, "तो तुम्हें इस तरह काफ़ी फ़ायदा हो जाया करता होगा!"

मुसकराते हुए उसने कहा, "जी हाँ! आपने देखा ही—आज साढ़े दस रुपए की दवा बेंची है। इसमें मेरा खर्च हुआ—चार आना दवा के दाम और एक रुपया कुली का भाड़ा। बाकी बचत है।"

"लेकिन तुम्हारा यह रोजगार कब तक चलेगा? आखिर

लोग जान ही जाएँगे कि तुम उन्हें धोखा देते हो।"

"अजी बाबू जी ! मैं तो घूमता-फिरता आदमी हूँ, और यह दुनिया काफ़ी बड़ी है। एक जगह सिर्फ एक दफ़े जाता हूँ, दूसरे दिन दूसरी जगह। रोज़ दस-पाँच रुपए पैदा कर लेता हूँ—दुनिया में बेवकूफ़ों की तादाद काफ़ी है।" और यह कह कर वह मदारी वहाँ से चल दिया।

मैं उस दवाफ़रोश की बातें सोच रहा हूँ। वह दुनिया को धोखा देता हुआ घूम रहा है लेकिन उसके दिल में ज़रा भी दुःख नहीं, परिताप नहीं। और शायद वह आदमी यह समझता है कि भगवान ने दुनिया में बेवकूफ़ आदमी इसलिए बनाए हैं कि बुद्धिमान आदमी उनकी बेवकूफ़ी का फ़ायदा उठाएँ।

"बुद्धिमान आदमी बेवकूफ़ों का फ़ायदा उठाएँ"—यह आज की सभ्यता और संस्कृति का सत्य है। ऐसी हालत में मैं यह कैसे कह दूँ कि वे नेता जो ढोंग का सहारा लेते हैं गलती पर हैं। यही मेरे सामने सारी मुसीबत खड़ी हो जाती है।

हाँ, एक बात और इस वक्त सूझ रही है। यह सारा सन्तोष, यह सारा सुख एक मानसिक स्थिति पर है। ज़रूरत तो सिर्फ़ इतनी है कि भरपेट खाना मिल जाय, शरीर ढाकने के लिए कपड़ा मिल जाय, और पैर फैलाने के लिए कुछ ज़मीन मिल जाय। इसके आगे की बात केवल मानसिक स्थिति की है। और इसलिए चीज़ों को मापने का पैमाना काम करनेवाले की मानसिक तुष्टि ही हो सकती है। दूसरों को सुखी देखकर सुखी होने की प्रवृत्ति हम में मौजूद है—स्वभाव से हम में दया है, ममता है, त्याग है, सद्भावना है। इन कल्याणकारी भावनाओं द्वारा मान

सिक तुष्टि न पाकर हम इधर-उधर क्यों भटकते हैं?

लेकिन मैं फिर न जाने कहाँ-का-कहाँ बहक गया। इतना ऊल-जलूल लिखने के बाद बहक जाना स्वाभाविक ही है, और उस पर डाक्टरों का कहना है कि मैं बीमार हूँ।

होली

कभी-कभी मैं अपने को अनायास ही खो देता हूँ और कुछ सोचने लगता हूँ। उस समय सारी दुनिया मेरे सामने होती है, लेकिन मैं अपने को उस दुनिया से कितना पृथक अनुभव करता हूँ!

और मैं सच कहता हूँ—उस समय मेरे प्राणों में एक अजीव तरह की उदासी भर जाती है। उस समय मेरे सामने होती है पीड़ित विश्व की अर्ध-विकसित आत्मा। मैं समझ नहीं पाता, मैं तर्क नहीं कर पाता, मैं लोगों को रोते देखता हूँ, हंसते देखता हूँ; और इस हँसने-रोने के बन्धनों से विमुक्त उस समय मैं अपने अन्दर एक भयानक उथल-पुथल का अनुभव करता हूँ—ऐसी उथल-पुथल जो प्राणों को असह्य-सी हो जाती है।

मेरे कुछ आत्मीय मुझे सनकी और पागल समझते हैं, कुछ मित्रों को मुझ पर दया आती है और वे मुझे समझाते भी हैं। एक अनुभवी तत्त्ववेत्ता ने मुझसे एक बार कहा था, "इस सोचने-विचारने में है क्या? इससे कोई लाभ नहीं! थोड़ा-सा सुख, थोड़ा-सा आनन्द जो तुम्हारे हिस्से में पड़ा है, उसे भी तुम खोए देते हो। तुम स्वयं जानते हो कि इस सोचने-विचारने से अन्दरवाली शान्ति खत्म हो जाती है। फिर इस सबसे फ़ायदा?"

मेरे उन अनुभवी मित्र ने जो कुछ कहा, वह गलत नहीं

कहा। वास्तव में वह थोड़ा-सा सुख, वह थोड़ा-सा आनन्द जो मेरे भाग में था, उसे भी मैं खो रहा हूँ! खो रहा हूँ? नहीं—खो चुका हूँ! और उसे फिर से पा सकना अब मेरे लिए असम्भव है। कहीं कोई पीछे भी हट सका है? नहीं, मैं जानता हूँ कि मेरे लिए वापस लौटना असम्भव है। दुनिया के ह्रास-विलास का खोखलापन मैं देख चुका हूँ। अब मेरे लिए खोखलेपन को भूलकर ज़बर्दस्ती उस हास-विलास में अपने को मिला देना असम्भव है।

अनुभवों ने मेरा यौवन मुझसे छीन लिया, और यौवन के साथ उन्होंने छीन लीं मेरे सपनों की रंगीनियाँ, मेरी कामना की मादकता, मेरे जीवन की मस्ती। पर यहाँ भी शायद मैं गलती करता हूँ!

मैंने माना कि ज़िन्दगी के कटु अनुभवों का अम्बार मेरे सामने है। मैंने माना कि प्रत्येक कदम पर बाधाओं का मुकाबिला करते-करते एक कटुता मेरे अन्दर भर गई है। मैंने सब माना; लेकिन मैं यह मानने को ज़रा भी तैयार नहीं कि अपने अन्दर वाले परिवर्तन का मूल कारण अनुभवों की यह कटुता है।

आज होली का दिन है—वही होली का दिन जब लोग अपने को एकदम भूलकर कुछ थोड़ी देर के लिए पागल बन जाते हैं। रंग और गुलाल उड़ता है, लोग भाँग और शराब पीते हैं और उसके बाद अश्लील-से-अश्लील गालियाँ बकते हैं। इस दिन मनुष्य थोड़ी देर के लिए नैतिकता और संस्कृति को तिलांजलि देकर न जाने किस सुख में गर्क हो जाना चाहता है।

प्रथा के अनुसार आज सुबह मैं भी अपने घर से निकला,

होली की रस्म अदा करने। लेकिन सच कहता हूँ, मन में कोई उल्लास न था, मेरी आत्मा जैसे बैठी जा रही थी। सड़कों पर मैं घूम रहा था, लड़के मुझपर रंग डाल रहे थे, और मैं चुपचाप सोच रहा था।

रास्ते में मेरे कई मित्र मिल गए। सब-के-सब सम्भ्रान्त आदमी अनुभवी और विद्वान। उनमें प्रोफेसर थे, डाक्टर थे, बड़े-बड़े अफ़सर थे। और वे लोग भी पागल हो रहे थे। कुछ लोगों ने भाँग पी रक्खी थी, कुछ ने शराब पी रक्खी थी, और जिन्होंने नहीं पी थी उन पर इन पिये हुए लोगों का रंग प्रतिबिम्बित था।

उन लोगों ने मुझे देखा, एक ने पूछा, "अरे! तुम्हें क्या हो गया जो तुम्हारे चेहरे पर मुर्दनी-सी छाई हुई है?"

मैंने मुसकराने की कोशिश की, "कुछ नहीं, ऐसे ही, आज कुछ अच्छा नहीं लग रहा!"

उन सबों को आश्चर्य हुआ, एक-आध ने तो मेरे मत्थे पर हाथ भी लगाया यह देखने के लिए कि कहीं मुझे बुखार तो नहीं आ गया है, या आनेवाला है। और एक-आध ने मुझे अपनी टोली का सदस्य बनाकर साथ ले चलने की ज़िद भी की। मैं किसी तरह अपने को बचाकर उन पागलों के बीच में से भागा जो मुझे पागल समझे हुए थे।

और सब कुछ देखते-सुनते मैं घूमता रहा—घूमता रहा। धूप तेज़ थी लेकिन मुझे उसकी चिन्ता न थी। मेरे प्राणों में न जाने कहाँ से आकर एक असह पीड़ा समा गई थी। और अन्त में मैं थक गया।

पास ही मेरे एक मित्र का घर था—वे हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध नवयुवक कवि हैं ! मुझे आशा तो नहीं थी कि वे घर पर होंगे, लेकिन फिर भी मैं उनके घर के अन्दर चला गया।

और वहाँ मैंने देखा कि वह नवयुवक दुनिया के हर्षोल्लास से दूर—बहुत दूर—अपने कमरे में अकेला बैठा कुछ सोच रहा है। मुझे देखते ही वह उठ खड़ा हुआ और मुसकराया। और उसकी उस मुसकराहट में कितनी करुणा थी, कितनी विवशता थी ! उसने मुझसे कहा, "खूब होली खेली ! लेकिन मैं इस कमरे में बैठा हूँ—अकेला, बन्द ! कहीं बाहर जाने का भी तो जी नहीं चाहा !"

मैं बैठ गया। थोड़ी देर तक मैं उसे देखता रहा और वह मुझे देखता रहा। इसके बाद मैंने धीरे से कहा, "होली, खेली तो नहीं, लेकिन लोगों को खेलते हुए देखा है ज़रूर। उफ़ ! यह सब कितना निरर्थक है, कितना खोखला है।"

उसी समय उसने एक कागज़ निकाला जिसपर उसने एक कविता लिखी थी।

और मैंने कविता पढ़ी, एक बार नहीं—कई बार !

कविता मैंने रख कर उस नवयुवक को आश्चर्य से देखा। वह भी—वह भी कह सकता है :

वह भी एकाकी दार्शनिक बना हुआ अपनी आत्मा की असह पीड़ा को अनुभव कर रहा है। इस नवयुवक में, जिसके सामने पूरी ज़िन्दगी है, जो युवा है—उसमें यह दर्द क्यों ?

वह कविता मैं अब भी याद कर लिया करता हूँ। मेरे भाव ठीक-ठीक उसमें प्रतिबिम्बित हैं, अधिक-से गहराई और प्रखरता

के साथ। मैं जिसे लिखने का प्रयत्न कर रहा था, जिसे ढूँढ़ रहा था उसने उसे लिख डाला, उसने उसे पा लिया।

मैं अनुभव करता हूँ यह उदासी, यह पीड़ा मुझे इस युग की देन है। यह हमारी आजवाली चेतना और विकसित विवेक का परिणाम है।

पर इस चेतना और विवेक को मैं क्या समझूँ--अभिशाप अथवा वरदान ? न जाने कितनी देर से मैं यह सोच रहा हूँ पर मुझे कोई उत्तर नहीं मिलता।

जी चाहता है कि इस चेतना को, इस विवेक को मैं एकदम अपने अन्दर से निकाल बाहर करूँ। मैं भी उन सुखों का अनुभव करूँ जिनका अनुभव करके दुनिया पागलपन में घूम रही है। जब सड़क पर बैठे हुए कंगाल-अपाहिज तक हँसते हैं तब मैं क्यों न हँसूँ ?

और यहीं मेरी चेतना मुझे रोक देती है। वह कहती है कि फिर अस्तित्व की सार्थकता ही क्या है ? हँसना-रोना, खाना मर जाना—क्या यही ज़िन्दगी है ? और अगर यही ज़िन्दगी है तब तो ज़िन्दगी निरर्थक है !

और मैं सोच रहा हूँ—क्या यह सृष्टि निरर्थक है ? क्या मेरा अस्तित्व निरर्थक है ? क्या यह सब जो कुछ देख रहा हूँ निरर्थक है ?

नहीं--कुछ भी निरर्थक नहीं, केवल हम उसे निरर्थक बनाते हैं। हम विकास के क्रम में अग्रसर प्राणी हैं, हमें लगातार आगे बढ़ना है। पीड़ित और दलित विश्व की मुसीबतों को दूर करना हमारा--हममें से हरेक का--कर्तव्य है।

हमारी सार्थकता अथवा सफलता की कसौटी क्या है? करोड़ों रुपया पैदा करके हम दुनिया को दुखी ही बनाते हैं, सुखी नहीं। अपने लिए हम जीवित रहते हैं, लेकिन यह अपनापन कितने समय के लिए? दस-बीस-तीस वर्ष के लिए न! और इसके बाद हममें से हरेक को यहाँ से जाना है।

हमारी सार्थकता और सफलता की कसौटी केवल एक हो सकती है--दुनिया के दुख-दर्द को हम कहाँ तक दूर कर सके? दुनिया को सुखी बनाने के लिए हमने क्या किया?

और चेतना मुझसे कहती है कि आँसुओं के अथाह सागर का अगर एक बूँद भी तुम सुखा सके, आहों के बहुत बड़े अम्बार की एक आह भी तुम कम कर सके तो इसका सुख ज़िन्दगी भर हँसते रहने के सुख से कहीं अधिक है!

इस सब के बाद !

काश मैं अपने को भूल सकता !

मानापमान और महत्त्वाकांक्षाओं के गुरुतर बोझ से दबा हुआ मैं आगे बढ़ रहा हूँ, ठिठकता हुआ, कराहता हुआ, रेंगता हुआ ! बड़ी-बड़ी मंजिलें मैंने तै की हैं, लेकिन मैं देखता हूँ कि मैं जहाँ था वहाँ से बहुत आगे नहीं बढ़ सका हूँ—जिसे मैंने मंजिल समझा वह तो एक छोटा-सा कदम था ।

यह सारा ज्ञान, यह सारा अनुभव जिसका मैंने अपने विश्वास, अपनी भावना की अनमोल निधि देकर संचय किया है, मेरे लिए वरदान न बनकर एक भयानक अभिशाप बन गया है । वह जिन्दगी जो विकसित होने के लिए निर्मित हुई थी, जिसके ऊपर निर्मल आकाश है, जिसके चारो ओर सुगन्धित पवन है—इस ज्ञान और अनुभव के खोखलेपन से मिलकर कराह उठती है । फूल हँसता है, कली मुसकाती है । और मेरा ज्ञान रोता है । वह जीवन नहीं देखता, वह विकास नहीं देखता, वह देखता है ह्रास, वह देखता है मृत्यु !

*　　　*　　　*

पता नहीं दूसरों को इस बात का यह अनुभव है कि नहीं पर मैंने इस बात को अच्छी तरह जाना है कि प्राणों की थकावट क्या चीज होती है । सामने प्रकाश के रहते हुए भी अन्धकार

के भयानक रूप को मैंने देखा है, मैंने अनुभव किया है कि दर्द किस तरह करवटें बदलता है।

मैं हँस नहीं सकता, इस बात का मुझे दुख नहीं, दुख मुझे इस बात का है कि मैं रो भी नहीं सकता।

हँसना अस्तित्व है। हँसने और रोने से ऊपर उठने को लोग मुक्ति कहते हैं, और मैं कहता हूँ कि वह अवश्य मुक्ति है यदि मुक्ति का दूसरा नाम मृत्यु है।

मानस में एक असह्य सूनापन, ऐसा सूनापन कि दम घुटने लगे, इसको जिसने अनुभव किया है वही मेरी बात समझ सकता है। मानस के उस सूनेपन से लाख सर टकराओ, लाख उससे अलग हटने का प्रयत्न करो—सब बेकार! मानस का वह सूनापन कराह उठता है, एक निर्जीव और ठंढे व्यंग की भाँति वह चीख पड़ता है, यही ज्ञान है, यही तुम्हारा सारा अस्तित्व है, यही वास्तविकता है!

* * *

जीवन—जिन्दगी—लाइफ! किलकारी भरते हुए बच्चे में, हँसते-खेलते हुए नवयुवक में, अपने भरे-पूरे कुटुम्ब में मग्न बूढ़े में—इन सबों में मैं जीवन देख रहा हूँ। क्या लखपती, क्या मजदूर, क्या चोर, क्या साहूकार—इन सबों में जीवन है। एक मोह, एक ममता, एक इच्छा, एक चाह—इससे जो बँधा है वही जीवन है। जो बन सकता है, बिगड़ सकता है, जो हँस सकता है, रो सकता है, वही जीवन है।

* * *

कल पूर्णमासी थी—हवा में एक हल्की-सी सिहरन थी।

में चल रहा था, सारा वातावरण सपने की रंगीनी से भरा हुआ था——मानो किसी ने सौरभ उडेल दिया हो, मधु छलका दिया हो। गंगा के किनारे-किनारे विसुध-सा, भूला-सा मैं चल रहा था।

और एकाएक मैं चौंक पड़ा जब किसी ने बड़े करुण स्वर में मुझसे कहा, "बाबू जी! एक पैसा! दिनभर का भूखा हूँ!" कितनी बेरहमी के साथ उस भिखारी की काँपती हुई आवाज ने मेरी सुन्दरता की दुनिया को उजाड़ दिया, एक झटके में ही वह मुझे सपने की रंगीनी से वास्तविक कुरूपता में खींच लाया।

मुझे याद नहीं कि मैंने उसे पैसा दिया था या नहीं, लेकिन मुझे इतना याद है कि मैं वहाँ से तेजी के साथ चल दिया था दुनिया के दुख-दर्द पर सोचते हुए! और दुनिया के दुख-दर्द की तह में था मेरा निजी दुख-दर्द, मेरा संघर्ष, मेरी असफलता! मैंने अनुभव किया कि मैं स्वर्ग से नरक में गिर पड़ा।

'पर यह नरक ही वास्तविकता है——स्वर्ग तो केवल एक कल्पना है!' मेरा ज्ञान मुँह चिढ़ाते हुए मुझसे कह उठता है, और इस ज्ञान से मुझे पराजय स्वीकार करनी पड़ती है। 'मनुष्य अपने से ही हारता है'——इस कहावत के सत्य को मैं अनुभव कर रहा हूँ! यह ज्ञान ही तो मेरा सारा अस्तित्व बन चुका है——मैं इसे अपने से अनुभव कर ही नहीं सकता!

आज एक अरसा हो गया है जी खोल कर हँसे हुए और शायद जी खोलकर रोए हुए भी! एक पत्थर की तरह हो गया हूँ दूसरों के प्रहार सहते-सहते! और अब सब कुछ जान गया हूँ, सब कुछ समझ गया हूँ! सभी बातों पर मुसकरा देता हूँ,

लेकिन उस मुसकराहट की वास्तविकता को मैं ही जानता हूँ ! कितना भयानक व्यंग भरा होता है उस मुसकराहट में, उस मुसकराहट में मेरी आत्मा की भयानक चीत्कार प्रतिबिम्बित है। पर लोग समझ नहीं सकते।

* * *

मैं दार्शनिक बन गया हूँ, और दर्शन निराशावाद है-- ऐसा मुझे लगता है। जब जीवन की अन्त बातों में रुचि नहीं रह जाती तब मनुष्य दर्शन की शरण लेता है। लोगों का कहना है कि जीवन की असफलता मनुष्य को दार्शनिक बना देती है। दूसरे दार्शनिकों पर यह बात लागू होती हो या न हो, पर मैं तो मानता हूँ कि मेरे दार्शनिक बनने के तह में मेरी असफलता और निराशा अवश्य रही है।

अभी तक एक बात नहीं हुई, वह यह कि नेकी पर मेरा विश्वास अभी तक नहीं मिटा, वैसा-का-वैसा बना हुआ है। जिस दिन नेकी पर मेरा विश्वास मिट जायगा उस दिन मैं समझ लूँगा कि मैं मर चुका। अभी मैं प्रायः जिन्दगी का अनुभव कर लेता हूँ, खुद न हँसकर बल्कि दूसरों को हँसता देख कर।

* * *

तो कभी-कभी इच्छा होती है कि मैं अपने इस ज्ञान, इस अनुभव के भार को अपने ऊपर से उतार कर फेंक दूँ, और दौड़ूँ खुली हवा में, खुली धूप में, बनों में, पर्वतों पर। लेकिन बुरी तरह जकड़ा हुआ हूँ अपने बन्धनों से। यह ज्ञान और यह अनुभव--ये मुझसे कहीं अधिक शक्तिशाली हैं। मैंने इन्हें नहीं पाया, ये मुझे पा गये हैं, और एक बार पाकर ये मुझपर सवार

हो गए हैं, मुझे बुरी तरह रगड़ रहे हैं। इन्होंने मेरे अन्दर से सारी भावनाओं को निकाल बाहर किया है, इन्होंने मेरी वस्ती उजाड़ दी है। और अपने अन्दरवाले उजाड़ मरुप्रदेश के सूनेपन से मैं टकरा रहा हूँ।

और टकराते हुए, लड़खड़ाते हुए, उठते हुए, गिरते हुए आगे बढ़ते रहना ही तो नियति का विधान है––अमिट और चिरन्तन ! इस विधान से सारी दुनिया जकड़ी हुई है––विवश-सी। मनुष्य को आगे बढ़ते ही रहना है––चाहे उसकी इच्छा हो या न हो, उसे मंजिलें पार करनी हैं यद्यपि उसका प्रत्येक कदम स्वयम् एक मंजिल है।

* * *

हाँ, लोग मुझे पागल समझ सकते हैं, कह भी सकते हैं। वे जो अपने को ज्ञानी समझते हैं, वे जो अपने को बुद्धिमान कहते हैं, मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या वे वास्तविकता को जानते हैं ? मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वे सब-के-सब अपने-अपने सपने के संसार में रहते हैं, वास्तविकता से दूर––बहुत दूर ! और इसीलिए वे मुझ पर हँस सकते हैं।

दूसरों के ऊपर हंसना बड़ा आसान काम है, वड़ा मुश्किल काम है अपने ऊपर हँस सकना ! अपने ऊपर जो हँस सकता है, वही ज्ञानी है, वही बुद्धिमान है !

* * *

काश मैं अपने को भूल सकता !

वनना आसान है, मिटना कठिन है। जो स्वयम् मिट सकता है वही अमर है, वही मुक्त है ! मैं बना तो हूँ, मैंने मिटना नहीं

सीखा। इसी साधना का मुझमें अभाव है !

दुनिया के सुख-दुख को मैं समझने तो लगा हूँ, लेकिन दुनिया के सुख-दुख को मैं अपना नहीं बना सका, उनमें मैं अपने को तन्मय नहीं कर सका।

यह सारा ज्ञान जो मैंने संचित किया है, उसमें एक कमी है—यह ज्ञान मेरे अहम की सीमा को नहीं मिटा सका। और यह सूनापन—यह सब इसलिए है कि "मैं" मौजूद हूँ, सीमित, संकुचित, दुनिया से बिल्कुल अलग। जो टकराता है, जो तड़पता है वह मेरे सीमित और संकुचित अहम की अहम्मन्यता है।

कुछ ऐसा मालूम होता है कि भावना को, प्रेम को, दया को जिसने मेरे अन्दर पनपने नहीं दिया वह है मेरी अहम्मन्यता। अहम्मन्यता को मिटानेवाला ज्ञान वास्तविक मुक्ति है जहाँ मनुष्य स्वयम् बन सकता है, स्वयम् मिट सकता है। मैं अपने को इसलिए नहीं भूल सकता कि मुझमें अहम्मन्यता है, मुझमें मानापमान है, मैं अपना और पराया समझता हूँ। मैंने ज्ञान पाया है, लेकिन मैंने ज्ञान पाने की साधना नहीं की है। कीचड़ में पड़े हुए हीरे की भाँति मैंने उस धुँधले और विकृत ज्ञान को उठा लिया है।

और मैं देख रहा हूँ कि बिना साधना मैं अपनी अहम्मन्यता को दूर नहीं कर सकता। उस दिन जब मैं अपनी अहम्मन्यता को अपने दूर कर सकेगा, मैं विशुद्ध और निर्मल ज्ञान अर्जित कर लूँगा, उस दिन वास्तव में मैं अपने को भूल जाऊँगा, उस दिन मैं मुक्त हो जाऊँगा।

Library IIAS, Shimla
H 813.31 V 59 H
00046157